भारतीय काव्य-शास्त्र

(विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध विभिन्न महाविद्यालयों में संचालित
बी. ए. /एम. ए. हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम पर आधारित पाठ्य-पुस्तक)

●

संपादक

डॉ. रमेश टण्डन

(एम. ए.- हिन्दी, अंग्रेजी, पी-एच. डी., सीजी सेट)

विभागाध्यक्ष - हिन्दी

शासकीय महात्मा गांधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय

खरसिया, जिला- रायगढ़ (छ.ग.)

●

सह-संपादक

प्रो. चरणदास बर्मन

एम. ए. (हिन्दी), बी.एड., स्लेट

प्रो. बाल किशोर राम भगत

एम. ए. (हिन्दी, समाज शास्त्र,), बी.एड. स्टेनो

प्रो. वंदना रानी खाखा

एम. ए. (हिन्दी), नेट, सेट

प्रो. सीमारानी प्रधान

एम. ए. (हिन्दी, समाजशास्त्र), सेट

प्रो. हेमपुष्पा नायक

एम.ए. (हिन्दी), नेट, सेट, जे.आर.एफ., एम.फिल

सर्वप्रिय प्रकाशन

दिल्ली-रायपुर

भारतीय काव्य-शास्त्र

ISBN- 978-93-91007-72-0

●

प्रकाशक

सर्वप्रिय प्रकाशन

1569, प्रथम मंजिल, चर्च रोड,

कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

मो. 94253-58748

e-mail : sarvapriyaprakashan@gmail.com

आवरण सज्जा : कन्हैया

प्रथम संस्करण : सितम्बर 2022

मूल्य : 400.00 रुपये

कॉपीराइट : लेखकाधीन

BHARTIYA KAVYASHASTRA

BY : RAMESH TANDAN

●

Published by

Sarvpriya Prakashan

1569, First Floor Church Road,

Kashmiri Gate, Delhi-110006

First Edition : September 2022

Price : Rs.400.00

प्रस्तुत पुस्तक के विभिन्न अध्यायों में लिखित पाठ्य सामग्री उसके लेखक/संकलनकर्त्ता के द्वारा स्नातक /स्नातकोत्तर हिन्दी में अध्ययनरत छात्रों के हित के लिए विभिन्न किताबों अथवा नेट से संकलित की गई है। अपने अध्याय की पूर्णता के लिए इस पुस्तक के अध्याय लेखकों ने मूल किताबों अथवा परवर्ती संदर्भ/शोध ग्रंथों अथवा नेट से उद्धरण अथवा उदाहरण लिए हैं, अत: उन मूल किताबों अथवा परवर्ती संदर्भ/शोध ग्रंथों अथवा नेट के क्रमश: लेखकों अथवा संपादकों/शोध छात्रों अथवा अपलोडर्स का सर्वश्रेष्ठ आभार, जिनकी पाठ्य सामग्री को यहाँ उद्धृत किया जा सका है। मौलिक तथ्यों /परिभाषा आदि में फेरबदल के लिए इस पुस्तक के संपादक अथवा प्रकाशक जिम्मेदार नहीं होंगे अपितु अध्याय लेखक स्वयं जिम्मेदार होंगे तथा किसी विवाद की स्थिति में न्याय क्षेत्र खरसिया (छ.ग.) ही होगा।

उमेश पटेल
मंत्री
छत्तीसगढ़ शासन
उच्च शिक्षा, कौशल विकास,
तकनीकी शिक्षा एवं रोजगार,
विज्ञान और प्रौद्योगिकी, खेल एवं युवा कल्याण विभाग

मंत्रालय कक्ष क्रमांक- M1-12
महानदी भवन, नवा रायपुर अटल नगर, रायपुर 492002 (छ.ग.)
फोन : 0771-2510316, 2221316
नि. : D-1/2, शास. आवासीय परिसर, देवेन्द्र नगर, रायपुर
फोन : 0771-2881030
ग्राम व पोस्ट नंदेली, जिला-रायगढ़ कार्यालय: 7000477747

क्रमांक 0522/MINISTER/CG/KHS/GOVT/2021 दिनांक 05/06/2021

शुभकामना संदेश

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है कि एम.ए. हिन्दी हेतु डॉ. रमेश टण्डन के द्वारा पाठ्य पुस्तक "**भारतीय काव्य शास्त्र**" संपादित किया जाना एक सराहनीय पहल है। यह पुस्तक छात्रों के लिए उपयोगी साबित होगी। उम्मीद है कि एक ही किताब में समग्र पाठ्यवस्तु एवं विस्तृत जानकारी छात्रों को मिल सकेगी।

किताब संपादन व प्रकाशन पर संपादक डॉ. रमेश टण्डन एवं सहपाठी प्राध्यापक-लेखकों को मेरी शुभकामनाएँ!

(उमेश पटेल)

प्रति,
श्री रमेश टण्डन
प्राध्यापक
एम.जी. कॉलेज, खरसिया
जिला रायगढ़ (छ.ग.)

संपादकीय...

प्रिय पाठक...

हिन्दी साहित्य के सहृदय पाठकों के लिए यह आवश्यक है कि वह भारतीय साहित्य के शास्त्रसम्मत नियमों का समुचित ज्ञान रखे। साहित्यकारों के लिए तो यह अनिवार्य हो जाता है। इन शास्त्रसम्मत नियमों को भारतीय वाङमय में भारतीय काव्य शास्त्र की संज्ञा दे सकते हैं। इसके अन्तर्गत रस सिद्धांत, अलंकार सिद्धांत, रीति सिद्धांत, वक्रोक्ति सिद्धांत, औचित्य सिद्धांत, ध्वनि सिद्धांत आदि आते हैं। स्नातक एवं स्नातकोत्तर हिन्दी के छात्रों के लिए कैरियर बनाने की दिशा में भारतीय काव्य सिद्धांतों का ज्ञान उपयोगी साबित होता है। यूजीसी नेट, छत्तीसगढ़ सेट एवं सहायक प्राध्यापक (हिन्दी) भर्ती परीक्षा आदि में यह पुस्तक अतुलनीय है। यद्यपि अनेक विद्वानों ने इस विषय पर अपनी लेखनी चलाई है, इसके बावजूद इसे सरल भाषा में छात्रोपयोगी बनाना और अलग–अलग अनेक पुस्तकों में विस्तीर्ण इसकी विषयवस्तु को समेकित रूप से इस एक ही पुस्तक में उल्लेखित करना हमारा उद्देश्य रहा है। इसे छत्तीसगढ़ के ही शिक्षकों ने छात्रों के स्तर को ध्यान में रखते हुए तैयार किया है। इससे 'भारतीय काव्य शास्त्र' के अध्येताओं को अध्ययन करने में सुविधा होगी, साथ ही प्राध्यापकों को भी 'भारतीय काव्य शास्त्र' से संबंधित प्रश्न पत्र के अध्यापन में सुगमता होगी।

पुस्तक लेखन, संपादन व प्रकाशन में जिन प्राध्यापक लेखकों ने लेख भेजकर अथवा संपादन में अपनी सक्रियता का परिचय देकर सहयोग किया है, उन्हें हृदय से धन्यवाद। छात्र हित में उनके द्वारा

की गई मेहनत व लगन निश्चित रूप से सत्कर्म की संज्ञा पाती है।

महाविद्यालयीन कार्यों में व्यस्तता के बावजूद, शिक्षकों के द्वारा लिखी गयी यह किताब निश्चित रूप से महाविद्यालयीन प्राध्यापकों की कर्मठता एवं शोधवृत्ति का परिचय देती है। भविष्य में भी छात्रोपयोगी अन्य एवं अनेक किताबों के लेखन में, इस किताब के अध्याय लेखक–प्राध्यापकों की सक्रिय सहभागिता बनी रहेगी, ऐसा विश्वास है। शोध एवं अकादमिक कार्यों में रूचि–जागरण की कामना के साथ...

संपादक

डॉ. रमेश टण्डन

अनुक्रम

क्र.	अध्याय	लेखक	पृष्ठ
1.	काव्य लक्षण	श्रीमती जानकी साव	09
2.	काव्य हेतु	श्रीमती सीमारानी प्रधान	18
3.	काव्य प्रयोजन	श्री दिनेशकुमार संजय	27
4.	काव्य प्रकार	श्रीमती हेमपुष्पा नायक	35
5.	रस सिद्धांत का स्वरूप एवं रस निष्पत्ति	श्रीमती प्रमिला पटेल	49
6.	रस के अंग एवं प्रकार	श्रीमती वंदना रानी खाखा	59
7.	साधारणीकरण	श्री कमल यशवंत सिन्हा	72
8.	अलंकार सिद्धांत	श्री चरणदास बर्मन	78
9.	रीति सिद्धांत	डॉ. जयती बिस्वास	112
10.	काव्य–गुण, रीति एवं शैली	श्री रमेश खैरवार	131
11.	वक्रोक्ति सिद्धांत की अवधारणा एवं भेद	डॉ. कुसुम माधुरी टोप्पो	139
12.	वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद	डॉ. कुसुम माधुरी टोप्पो	147
13.	औचित्य सिद्धांत	डॉ. श्रीमती बी. नन्दा जागृत	151
14.	ध्वनि सिद्धांत	श्रीमती माग्रेट कुजूर	160
15.	हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियाँ	श्री बाल किशोर राम भगत	170

(1)
काव्य लक्षण

जानकी साव

काव्य– काव्य मानव जीवन की ही प्रतिकृति है। मानव जीवन की झांकियों, सभ्यता, संस्कृति, जीवन मूल्यों और प्राकृतिक सौंदर्य को दृश्य बिम्बों और कल्पना के द्वारा भाव प्रदर्शित करना ही काव्य है, जिसमें शब्द और अर्थ के साथ अपना भाव गद्यांश और पद्यांश के रूपों में अभिव्यक्त होता है। काव्य का स्वरूप व्यापक है। इसे लक्षण की परिधि में बाँधना संभव नही है। फिर भी पाश्चात्य और हिन्दी विद्वानों द्वारा दिये गये काव्य लक्षण पर दिए विचार को समझने का प्रयत्न करते हैं।

अग्निपुराण में काव्य की परिभाषा दी गई है, ''इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है, जिसमें अंलकार प्रकट हो जो दोषरहित हो, गुण युक्त हो।''

संस्कृत आचार्यों द्वारा दिए गए काव्य लक्षण –

1. भामह–

छठवीं शताब्दी के अलंकार सम्प्रदाय के प्रर्वतक आचार्य भामह ने अपने काव्यालंकार में काव्य को परिभाषित किया है–

''शब्धार्थो सहितौ काव्यम् पद्यं गद्यं च द्विविधा''

---

* जन्म तिथि : 25.06.1991, सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), के. पी. महाविद्यालय बंधापाली सारंगढ़ जिला– रायगढ़ (छ.ग.), मो. 9131172902, मेल – jankisahu450@gmail.com

भामह ने शब्द अर्थ के सहित भाव को काव्य की संज्ञा दी है, यहाँ भामह ने काव्य के दो रूप स्वीकार किये हैं, प्रथम पद्य के रूप में द्वितीय गद्य के रूप में।

अलंकारवादी आचार्य भामह ने काव्य का स्वरूप निर्धारण कर अलंकार को काव्य का प्राण तत्व माना है, अलंकार को ही आत्मा स्वीकार किया है। यह अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाते हैं, अर्थात् काव्य को अलंकृत करते हैं।

2. दण्डी –

काव्यदर्श के रचनाकार दण्डी ने काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है –

''शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिना पदावली''

काव्य का शरीर तो इष्ट अर्थ से युक्त पदावली होता है। दण्डी ने शब्दार्थ के स्थान पर पदावली का प्रयोग किया है।

3. वामन –

''काव्य शब्दोडंयगुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोंः वर्तते।''

''विशिष्ट पद रचना रीतिः''

जब शब्दार्थ गुण और अलंकारों से सम्पन्न हो तथा दोष से रहित हो उसे काव्य कहा जाता है।

''विशेषो गुणो आत्मा''

पदों में आने वाली विशिष्टता का कारण गुण को माना गया है। वामन के अतिरिक्त मम्मट ने रीति को वृत्ति कहा है। आचार्य विश्वनाथ ने पद संघटना का नाम दिया है। कुंतक ने रीति को मार्ग कहा है। यहाँ विद्वानों के अनुसार काव्य में गुणों का होना स्वीकार्य किया है।

4. रूद्रट –

''ननु शब्दार्थौं काव्यम्।''

रूद्रट के अनुसार छोटे–से–छोटा शब्द, जो अर्थ देने में सक्षम हो, वाक्य काव्य है।

5. कुंतक –

''शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनी,
बंधे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।''

शब्द और अर्थ में वक्रता से विचित्र गुणों और अलंकारों की सम्पदा का परस्पर स्पर्द्धा पर आ जाना ही शब्दार्थ का उचित सहभाव है। अर्थात् शब्द और अर्थ में वक्रता अर्थात् सामान्य से अलग विलक्षण होना और आह्लादित करने की क्षमता को काव्य की संज्ञा दी गई है। वक्रोक्ति का अर्थ– टेढ़ापन। वक्रोक्ति को इन पंक्तियों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

कौन तुम ? हैं घनश्याम हम,
तो बरसौ कित जाई।

यहाँ पर कृष्ण राधा से मिलने जाते हैं, दरवाजे पर राधा कहती है – तुम कौन हो ? तो कृष्ण उत्तर देते हैं– घनश्याम। तब राधा कहती है – घनश्याम हो, तो कहीं जाकर बरसो। यहाँ घन का अर्थ– बादल और श्याम का अर्थ– काला, अर्थात् काला बादल इन पंक्तियों में उक्ति वैचित्र्य है। इस कथन में टेढ़ापन है, क्योंकि इसमें कृष्ण अपना नाम लेते है और राधा उन्हें कहीं और जाकर बरस जाने को कहती है।

6. मम्मट–

''तद्दौषौ शब्दार्थो सगुणावनलकृतिः पुनः क्वापि''

ऐसा शब्दार्थ जो दोषरहित हो, गुणों से युक्त हो तथा कभी–कभी अलंकार रहित हो, तब उसे काव्य कहते हैं। मम्मट ने गुणों युक्त पदावली को काव्य से अभिहित किया है। काव्य गुणों से युक्त होना चाहिए अर्थात् काव्य में माधुर्य, ओज, प्रसाद गुण होने चाहिए।

हिन्दी आचार्यों के द्वारा दिए गए काव्य के लक्षण –

1. नगेन्द्र –

नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक रीतिकाव्य की भूमिका में लिखते हैं कि रीति, शब्द और अर्थ के चत्मकार का नाम है, जो माधुर्य, ओज व

प्रसाद गुणों के द्वारा चित्र को द्रवित, दीप्त और परिव्यक्त करती रस दशा तक पहुँचाती है।

उदाहरण– बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाये।
सौंह कहे भौहिन हंसे, दैन कहै नटि जाय।।

(बिहारी)

इन पंक्तियों में माधुर्य गुण है।

2. विश्वनाथ –

''वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्''

साहित्यदर्पण के प्रणेता रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने रस से युक्त वाक्य को काव्य कहा है। वामन के अनुसार काव्य का एक लक्षण रसात्मकता है, जिसे काव्य का प्राण भी माना गया है। कई आचार्यों ने अलंकाररहित और गुण सहित वाक्य को काव्य कहा है। जो काव्य, रसहीन अर्थात् निरस होगा, उसे काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। कोई कवि या लेखक काव्य रचना करता है, तो उस काव्य सृजन में कोई–ना–कोई भाव अवश्य निहित होता है और उस निहित भाव में कोई रस अवश्य छुपा होता है। कोई काव्य रसहीन नहीं हो सकता है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, रसहीन वाक्य को काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

3. रामचंद्र भाुक्ल –

प्रसिद्ध अलोचक रामचंद्र शुक्ल ने रसानुभूति का समर्थन करते हुए उसे उत्तम, मध्यम, अधम कोटि का काव्य कहा है। आचार्य विश्वनाथ के मत को इन पंक्तियों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभा समुज्जवला स्वतंत्रता पुकारती।।

(बीर रस)

मुझे फूल मत मरो।
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।।

(करूण रस)

4. जगन्नाथ –

रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्

यहाँ पंडित राज जगन्नाथ के अनुसार, रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द ही काव्य है। रमणीय का अर्थ है– सुंदर अर्थात् काव्य को सौन्दर्य से युक्त होना चाहिए और काव्य में रमणीयता, गुण, अलंकार और रस से आती है। इस प्रकार जगन्नाथ ने रमणीयता के माध्यम से सौंदर्य को महत्व दिया है।

5. चिंतामणी –

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि चिंतामणि ने काव्य का स्वरूप इस प्रकार निर्धारण किया है –

सगुण अलंकार सहित, दोषरहित जो होई।
शब्द अर्थ वारौ कवित, विवुध कहत सब कोई।।

6. कुलपति मिश्र –

दोष रहित अऊ गुनसहित, कुछुक अल्प अलंकार।
सबद अरथ सो कवित हैं, ताकौ करो विचार।।

7. महावीर प्रसाद द्विवेदी –

''अंतःकरण की वृत्तियों के चित्र ही कविता है''

सरस्वती पत्रिका के संपादक द्विवेदी जी ने कविता का स्वरूप निर्धारण करते हुए कविता को प्रभावशाली रचना माना है, जो पाठक और श्रोता के मन पर आनन्दमयी प्रभाव डालती है। अर्थात् द्विवेदी जी के अनुसार, श्रोता या पाठक का मन उस रचना से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। काव्य, आदर्शों जीवन मूल्यों, संस्कृतियों एवं जीवन के विभिन्न पक्षों को उजागर करने वाला है अर्थात् काव्य में ऐसा परिवेश या परिस्थिति प्रकट होती है, जिसे श्रोता, पाठक प्रभावित होता है। इनके मत को इन पंक्तियों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

लट–लट कनि मनु मत, मधुप गन मादक मधुहिं पिए।।
कठुला–कंठ, ब्रज के हरि–नख, राजत रूचिर हिए।।
धन्य सूर एको पल इहि सुख, का सत कल्प जिए।।

(सूर के पद)

यहाँ इन पंक्तियों में बालकृष्ण की सुदंरता का चित्रण, पाठक या श्रोता के मन में आनंदमयी प्रभाव डालने वाला है। कभी–कभी काव्य में आनंदमयी प्रभाव के अलावा करूणा के स्वर भी मुखरित होते हैं।

8. जयशंकर प्रसाद –

''काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है।''

छायावाद के कवि जयशंकर प्रसाद ने काव्य के लक्षण आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति को माना है। प्रसाद जी के अनुसार, मानव के मन–चित में किसी अवस्था, कार्य, स्थिति, दशा को देखकर अनुभूति द्वारा जो वाणी निःसृत होती है, वह काव्य का रूप धारण कर लेती है। जैसे, आदिकवि वाल्मिकी ने तमसा नदी के तट पर क्रौंच पक्षी के मारे जाने पर उनके मुख से जो शब्द निःसृत हुए, वह छंद का रूप धारण कर काव्य बन गया।

माँ निषादं प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौचमिथुनादेकम् अवधी काममोहितम्।।

अर्थात्, हे निषाद! तुमको अनंतकाल शांति न मिले, क्योंकि तुमने प्रेम–क्रीड़ा में लीन असावधान क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक की हत्या कर दी। इसे संस्कृत का पहला श्लोक माना गया। इसके पश्चात् वाल्मिकी ने रामायण की रचना कर डाली। इस प्रकार व्यक्ति के अन्तर्मन की अनुभूति काव्य का रूप धारण कर लेती है।

9. महादेवी वर्मा –

''कविता कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण है'' और वह चित्रण इतना सटीक होता है कि उसके जैसी भावनाएँ दूसरे के हृदय में आविर्भूत हो जाती है। छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा, काव्य का स्वरूप निर्धारण करते हुए कहती है कि कविता रचते समय जो भावना कवि की होती है, वही भावना पाठक के मन में पढ़ते समय हो जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह काव्य शास्त्र में काव्य का साधारणीकरण हो जाना है।

सजि बन साजु समाजु सबु बनिता बंधु समेत।
बंदि विप्र गुरू चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत।।

अर्थात्, वन का सब साज सामान सजकर (वन के लिए आवश्यक वास्तुओं को साथ लेकर) श्री रामचंद्र जी, सीता जी और भाई लक्षण सहित ब्राह्मण और गुरू के चरणों की वंदना करके सबको अचेत करके चले। इन पंक्तियों में आयोध्यावासियों के दुःख को देख–सुनकर सहृदय का मन भी दुःखी हो जाता है, अर्थात् साधारणीकरण हो जाता है। इस प्रकार महादेवी जी के काव्य स्वरूप को समझ सकते हैं। इन पंक्तियों में कवि की जैसी भावना सहृदय के मन भी आ जाती है।

पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा दिये गये काव्य लक्षण–

1. मैथ्यू अर्नाल्ड –

''कविता मूलतः जीवन की आलोचना है।''

पाश्चात्य विद्वान मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता को मूलतः जीवन की आलोचना कहा है। इनके अनुसार कवि या लेखक देखने–समझने के पश्चात् चित्रण करने को उन्मुक्त होकर अपने भावों को काव्य रूप में अंकित करता है। मानव जीवन के चित्र काव्य रूप में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। मैथ्यू आर्नाल्ड ने कविता को जीवन की आलोचना कहा है। इसे छायावाद के विद्रोही कवि निराला जी की इन पंक्तियों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

वह तोड़ती पत्थर;
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर–
वह तोड़ती पत्थर।
कोई न छायादार,
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बंधा यौवन,
न्त नयन, प्रिय–कर्म–रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,

करती बार–बार प्रहार;

सामने तरु–मल्लिका अट्टालिका, प्राकार।

इस कविता में निराला ने इलाहाबाद जाते समय एक मजदूरिन स्त्री को पत्थर तोड़ते हुए देखा और उसकी दयनीय स्थिति का चित्रण किया। उसने, मन में उठ रहे भावों को व्यक्त किया है, साथ ही जीवन की स्थिति का चित्रांकन कर यहाँ शोषक वर्ग के प्रति अपना रोष प्रकट किया और शोषित वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त की है। यहाँ, इस कविता में दो चरित्रों– पूंजीपति व शोषक वर्ग के जीवन का चित्रांकन कर उच्च–निम्न का भाव प्रदर्शित है। इसमें जीवन की आलोचनात्मक स्थिति को दर्शाया गया है।

2. वड्र्सवर्थ –

''कविता हमारे प्रबल भावों का सहज उच्छलन है।''

पाश्चात्य विद्वान वड्र्सवर्थ ने कविता को भावों का सहज उच्छलन कहा है, अर्थात् काव्य व्यक्ति के मन में उठ रहें भावों को व्यक्त करने का साधन है। मानव मन प्राकृतिक सौंदर्य और जीवन के दृश्य–बिम्बों को रमणीयता के साथ भावपूर्ण चित्रांकन करता है। छायावादी कवि पंत ने कविता को परिपूर्ण क्षणों की वाणी कहा है और वड्र्सवर्थ ने भावों का सहज उच्छलन कहा है। दोनों विद्वानों के विचार में समानता दिखाई दे रही है। दोनों ही कवियों ने अपने काव्य में प्रकृति के अनुपम सौंदर्य का रमणीय चित्रांकन किया है।

निष्कर्ष –

शनैः–शनैः परिवर्तन के पश्चात् हिन्दी आचार्यों ने अपने काव्य स्वरूप में परिवर्तन करते हुए काव्य का जो स्वरूप दिया है, उसमें उन्होंने भाव, मानव के अंतःकरण अनुभूति को विशेष स्थान दिया है। काव्य सृजन का मुख्य आधार माने, तो वक्ता के मनोभाव ही मुख्य स्थान रखता है। मनोभाव ही चित्रों और शब्दों के रूप में काव्य का स्वरूप धारण करते हैं। शब्द और अर्थ के सहित भाव को काव्य माना गया है। इसके समर्थक आचार्य भामह, दण्डी, रूद्रट, कुंतक इत्यादि

हैं। शब्द और अर्थ भाषा के तत्वों के अंतर्गत आते हैं। काव्य में गुणों को महत्व देने वाले विद्वान– वामन, मम्मट, जगन्नाथ आदि ने गुणों से युक्त दोषरहित पदावली को काव्य माना है। गुण, अलंकार, रस काव्य को सुन्दर और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए आवश्यक है। काव्य में कल्पना तत्व, बुद्धि तत्व और अनूभुति का होना अनिवार्य है।

■■

(2)
काव्य हेतु

सीमारानी प्रधान

काव्य या साहित्य हेतु से तात्पर्य साहित्य सृजन का कारण। काव्य हेतु में उन तत्वों की विवेचना की जाती है, जिसके कारण साहित्य की रचना हो पाती है। अर्थात् वे कौन से कारण हैं, जिससे कवि और लेखक नवसृजन कर पाते हैं। इस बारे में प्राचीन भारतीय परम्परा से चिंतन किया जा रहा है। ये प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कवि क्यों लिखता है ? ऐसी कौन सी शक्ति है, जो उसे साधारण व्यक्ति से अलग करती है। यदि काव्य हेतु न हो, तो संभवतः साहित्य का जन्म ही न हो। किसी दृश्य या घटना को हजारों आँखें देखती हैं, परन्तु उनमें से कोई एक ही उस दृश्य या घटना को शब्दबद्ध कर उसे शाश्वत रूप दे सकता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में इन तत्वों का वैज्ञानिक विवेचन हुआ है कि कवि में कौन सी शक्ति निहित है, जिसके कारण वह सामान्य मानव होकर भी विलक्षण काव्य–रचना करता है या असामान्य अर्थ उत्पन्न करता है।

काव्य हेतु :– रूप और भेद

किसी भी व्यक्त वस्तु के दो रूप स्वीकार किये गये हैं।

---

* जन्म तिथि : 02 मई 1981, माता : श्रीमती मालती साहू, पिता : श्री प्रेमलाल साहू, पति : श्री युगल किशोर प्रधान, योग्यता : एम ए (हिन्दी, समाजशास्त्र), सेट, मो0 नं0 : 8839604111, पता : हरदी, तह.– बिलाईगढ़, जिला – बलौदाबाजार, सम्प्रति : सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), शास. महाप्रभु वल्लभाचार्य स्नातकोत्तर महावि. महासमुंद, छ.ग., मेल – rudraseema123@gmail.com

(1) निमित्त हेतु,

(2) उपादान हेतु।

निमित हेतु को संयोग हेतु भी कहा जाता है। इस प्रकार के हेतु हमेशा नहीं रहते हैं। इस हेतु के नष्ट होने से भी कार्य नष्ट नहीं होते हैं।

दूसरे प्रकार के हेतुओं को समयावधि हेतु भी कहा जाता है। इसमें हेतु और कार्य के बीच हमेशा संबंध बना रहता है। हेतु के नष्ट हो जाने से कार्य भी नष्ट हो जाता है।

साहित्य के हेतु निमित्त हैं। कवि रहे न रहे, उसका काव्य हमेशा ही रहता है। इस दृष्टि से काव्य रचना के जो आधारभूत तत्व हैं उन्हें ही काव्य हेतु कहा जाता है।

''काव्य हेतुओं को कवि–हृदय में विद्यमान सर्जनात्मक शक्ति के नाम से अभिहित किया जा सकता है। वे हेतु हैं– प्रतिभा, व्युत्पत्ति, निपुणता, अभ्यास आदि।''[1]

इन काव्य हेतुओं को सभी आचार्यों ने किसी–न–किसी रूप में स्वीकार किया है। किसी आचार्य ने किसी एक को महत्व दिया है, तो किसी ने दो काव्य हेतुओं को महत्वपूर्ण माना है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों के मत

संस्कृत विचारक– संस्कृत में प्राचीन काल से काव्य रचना प्रारंभ हो गयी थी। ''संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। गंगोत्री के समान उसका उद्‌गम–स्थल अत्यंत सूक्ष्म और प्रारंभिक प्रवाह अत्यंत सीमित है, किन्तु काल क्रम से वह विस्तृत और व्यापक गंगासागर के रूप में परिणत हो गया।''[2] इसलिए काव्य की सम्यक समीक्षा हेतु मापदण्डों की आवश्यकता हुई। आचार्यों ने इस दिशा में स्तुत्य कार्य किया है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने तीन तत्वों को काव्य हेतु स्वीकार किया– प्रतिभा, व्युत्पत्ति, और अभ्यास। ''काव्य हेतु रूपी त्रिगुण की ये भुजाएँ हैं अर्थात् तीनों में किसी का

महत्व कम नहीं है।''[3]

आचार्यों के विवेचन पर मतैक्य नहीं है। संक्षेप में उनके मत प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

(1) आचार्य भामह– भामह ने ''काव्यालंकार'' में लिखा है कि गुरू की कृपा अथवा अध्यापन से मूर्ख भी शास्त्र में पारंगत हो जाता है। लेकिन काव्य सृजन किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति में ही यदा–कदा दिखता है।

गुरूपदेशादध्येतु शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातुकस्यचित्व प्रतिभावतः।।

भामह के अनुसार काव्य का अनिवार्य हेतु प्रतिभा है, लेकिन इसके अतिरिक्त शब्द–शास्त्र और पद–पदार्थ का ज्ञान एवं अध्ययन भी काव्य रचना के लिए आवश्यक है।

(2) आचार्य दण्डी– इन्होंने केवल प्रतिभा को ही काव्य हेतु स्वीकार नहीं किया, बल्कि व्युत्पति अर्थात् शास्त्र ज्ञान व अभ्यास को भी स्वीकार किया।

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतुं च बहुनिर्मलम्।
आनन्दाश्चभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः।।

उन्होंने कहा है कि प्रतिभा अभ्यास से और भी निखरती है।

(3) आचार्य वामन – अपनी पुस्तक ''काव्यलंकार सुत्रवृत्ति'' में आचार्य वामन ने काव्य–हेतुओं का पर्याप्त विस्तार किया है। उन्होंने भी प्रतिभा को ही मूल कारण स्वीकारा है। वामन का दृष्टिकोण विस्तृत है। उन्होंने आचार्य भामह व आचार्य दण्डी के विचारों का समन्वय किया है।

''वामन ने काव्य–हेतु को काव्यांग कहा है और क्रमशः लोक, विद्या और प्रकीर्ण नाम से तीन काव्यांग प्रमुखतः स्वीकारा है।''[4]

(4) आचार्य रूद्रट– अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में रूद्रट ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों ही को स्वीकार किया है। उन्होंने

प्रतिभा दो प्रकार की मानी है –

1. सहजा– यह ईश्वरीय शक्ति है। कवि में जन्मजात होती है।

2. उत्पाद्या– यह सत्संग, शास्त्र–अध्ययन और लोकानुभव से प्राप्त होती है।

रूद्रट ने सहजा प्रतिभा को काव्य हेतु एवं उत्पाद्या को उसके संस्कार का कारण माना है। उन्होंने कहा है कि सुकवि के सानिध्य में रहकर काव्य का अभ्यास करने से उत्कृष्ट रचना संभव है।

(5) आचार्य आनन्दवर्धन– आनन्दवर्धन ने काव्यहेतुओं के लिए अलग से चर्चा नहीं की है। परन्तु अपने सिद्धांतों के मध्य में इस संबंध में विचार व्यक्त किया है। आनन्दवर्धन ने दो ही मुख्य हेतु माना है–

1. प्रतिभा और 2. व्युत्पत्ति।

उनके अनुसार प्रतिभा से कोई श्रेष्ठ काव्य की रचना कर सकता है। प्रतिभाशाली कवि के लिए विषय महत्वपूर्ण नहीं है। वह कोई पुराने विषय को भी नवीनता और भव्यता प्रदान कर सकता है।

(6) आचार्य राजशेखर– राजशेखर ने काव्यहेतुओं पर विस्तार से चर्चा की है। इन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के समान प्रतिभा और शक्ति को एक दूसरे का पर्याय न मानकर शक्ति को अलग तत्व के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने बुद्धि के तीन प्रकार माना है – स्मृति, मति और प्रज्ञा।

स्मृति को अतीत के साथ, मति को वर्तमान के साथ और प्रज्ञा को भविष्य के साथ जोड़ा है। उन्होंने प्रतिभा का दो रूप माना है–

1. कारयित्री प्रतिभा– यह प्रतिभा कवि में होती है, जिसके कारण कवि काव्य सर्जना करता है।

2. भावयित्री– यह प्रतिभा सहृदय में होती है, जिससे वह काव्य में निहित भाव और अर्थ को ग्रहण कर पाता है।

(7) आचार्य मम्मट– मम्मट समन्वयवादी थे। ''भारतीय चिन्तन की प्रतिनिधि विचारधारा मम्मट की है। उन्होंने शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास तीनों को काव्य की निष्पत्ति में सम्मिलित हेतु माना।''[5] काव्य रचना की शक्ति लोकशास्त्र के अध्ययन, काव्य शास्त्रियों से प्राप्त ज्ञान और अभ्यास से मिलती है। उनके अनुसार, इन संस्कारों से प्राप्त शक्ति ही काव्य का मूल या बीज तत्व है।

बाद के आचार्यों में केशव मिश्र, हेमचन्द, पंडितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा को ही काव्य का मुख्य हेतु स्वीकार किया है। व्युत्पत्ति को संस्कार तत्व माना जाता है। उनके अनुसार, कारयित्री प्रतिभा ही प्रयोजनीय है।

(8) हेमचन्द– इनके अनुसार प्रतिभा के अभाव में शेष हेतुओं का कोई औचित्य नहीं है। इन्होंने जन्मजात प्रतिभा को सहजा एवं प्रयत्नों से सिद्ध प्रतिभा को औपाधिकी कहा है।

हिंदी विचारकों के मत

(1) भिखारीदास – रीतिकालीन विचारक भिखारीदास के अनुसार काव्य हेतु तीन हैं– 1. शक्ति या प्रतिभा, 2. सुकवियों द्वारा अध्ययन, 3. लोकानुभव। ये शक्ति को जन्मजात गुण मानते हैं। लेकिन तीनों गुणों के सम्मिश्रण को मनमोहक काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं।

(2) आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी – द्विवेदी के अनुसार कवि को सबसे ज्यादा जरूरत प्रतिभा की होती है। उसके साथ ही व्युत्पत्ति और अभ्यास भी श्रेष्ठ काव्य सर्जना के लिए आवश्यक है। प्रकृति के तत्वों और लोक ज्ञान के अभाव में कोई भी अच्छा कवि नहीं बन सकता।

(3) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'रस–मीमांसा' में लिखा है कि प्रतिभा काव्य का मुख्य हेतु है, लेकिन त्युत्पत्ति और अभ्यास के महत्व को कम नहीं माना जा

सकता है।

(4) सुमित्रानंदन पंत– सुमित्रानंदन पंत ने भी प्रतिभा के साथ त्युत्पत्ति को महत्वपूर्ण माना है।

(5) महादेवी वर्मा– महादेवी वर्मा प्रतिभा और त्युत्पत्ति को समान महत्व देती है।

उनके अनुसार साहित्य की रचना केवल कवि की इच्छा या उसकी किसी प्रकार की मज़बूरी नहीं है। बल्कि उसके अंदर की विशेष प्रतिभा के साथ काव्य को संभव करने वाले सभी तत्वों की उपस्थिति भी जरूरी है।

(6) रामधारी सिंह 'दिनकर'– दिनकर प्रतिभा, त्युत्पत्ति और अभ्यास की सामूहिक उपस्थिति को काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं।

(7) डा. नगेन्द्र– डा. नगेन्द्र प्रतिभा को सर्वाधिक महत्व देते हुए प्रतिभा को मानसिक चेतना मानते हैं, जिससे कवि चिंतन, मनन व कल्पना कर संकल्पित होता है और उत्कृष्ट साहित्य की रचना संभव होती है।

पाश्चात्य विचारकों के मत

(1) प्लेटो – प्लेटो के अनुसार कोई भी सृजन प्रेरणा से ही होता है। प्रत्येक कार्य के लिए हम किसी–न–किसी रूप में प्रेरित होते हैं। बिना किसी प्रेरणा के हम कार्य प्रारंभ ही नहीं कर सकते।

(2) अरस्तु – अरस्तु मानते हैं कि प्रतिभा आवश्यक है, लेकिन प्रतिभा के साथ सुध–बुध उतना ही आवश्यक है। अरस्तु कवि की प्रतिभा को जन्मजात मानते हैं। संस्कृत आचार्यों ने जिसे 'अभ्यास' कहा है, अरस्तु उसे अनुकरण कहते हैं। अरस्तु निपुणता को महत्व देते हैं, लेकिन कहीं पर उन्होंने इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की है।

(3) फ्रायड – फ्रायड ने काव्य–कला के मूल में काम वासना को माना है। फ्रायड के अनुसार, मनुष्य की कुछ इच्छाएं पूर्ति नहीं

हो पाती हैं। यह दमित इच्छाएं किसी–न–किसी रूप में प्रकट होती है। अनुकूल अवसर प्राप्त कर ऐसी इच्छाएं काव्य के रूप में दिखती हैं।

(4) एडलर – एडलर काव्य सर्जन को 'क्षतिपूर्ति सिद्धांत' के अनुसार देखते हैं। एडलर के अनुसार, कोई व्यक्ति व्यवहार जगत में कई वस्तुएं प्राप्त नहीं कर सकता है, उन्हीं की क्षतिपूर्ति में वह काव्य रचना करता है।

(5) युंग – मनोविश्लेषणवादियों की पंरपरा में आचार्य युंग का मत भी उल्लेखनीय है। उन्होंने 'प्रभुत्व कामना' को काव्य हेतु स्वीकारा है। उनके अनुसार, व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ने के लिए भी काव्य रचना करता है।

(6) विलियम हडसन – हडसन ने अभिव्यक्ति की अंतःप्रेरणा को काव्य हेतु कहा है। इन्होंने आत्माभिव्यंजना की इच्छा, भोगे हुए यथार्थ, काल्पनिक जगत के प्रति अनुराग एवं सौन्दर्य की अनुभूति को काव्य–प्रेरणा या काव्य हेतु माना है।

(7) कोंचे – कोंचे ने स्वयं प्रकाश ज्ञान और बाह्याभि व्यंजना के महत्व बताते हुए प्रतिभा और अभ्यास दोनों को काव्य के लिए आवश्यक माना है।

(8) टी. एस. इलियट – इलियट के अनुसार, प्रौढ़–सभ्यता, प्रौढ़–भाषा, संस्कृति एवं प्रौढ़–कलाकार; ये तीनों ऐसे तत्व हैं, जिनसे महान रचना जन्म लेती है। इन तीनों को अलग नहीं किया जा सकता है। प्रौढ़ता से तात्पर्य अभ्यास से है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य हेतुओं पर विस्तृत चर्चा किया है। प्रतिभा नवीनता का आग्रह करती है। काव्य में अगर एक ही रस हो, एक ही तरह का उपमान हो; तो काव्य में नीरसता आ जाती है। कवि की प्रतिभा काव्य को नित नवीन रूप प्रदान करती है। काव्य की प्रेरणा ही काव्य के हेतु है। प्रतिभा निस्संदेह सबसे प्रथम है। व्युत्पत्ति

और अभ्यास के सम्मिश्रण से ही श्रेष्ठ काव्य की रचना होती है। ''इस दृष्टि से देखें तो आत्माभिव्यक्ति, सौन्दर्य के प्रति आकर्षण और कौतुक इन तीन वृत्तियों को काव्य प्रेरक मान सकते हैं। आत्मानुभुति या परानुभुति को शब्दबद्ध करने की विह्लता कवि को काव्यरचना में प्रेरित करती है।''[6]

काव्य सृजन के तीन प्रमुख कारण

1. प्रेरक काव्य – जिन कारणों से प्रेरित होकर कवि कविता करता है; चाहे वह सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक या व्यक्तिगत परिस्थितियॉ हो। ये काव्य सर्जन हेतु कवि की प्रेरणा के स्रोत बनते हैं। इस तरह से रचित काव्य प्रेरक काव्य कहे जाते हैं। निराला की 'तोडती पत्थर', भिक्षुक, सरोज–स्मृति, जयशंकर प्रसाद की कविता 'आंसू' जैसी रचना इस श्रेणी में आती हैं।

2. निमित्त कारण– प्रतिभाशाली कवि अपनी कल्पना से मरूभूमि को भी उर्वर व हरा–भरा कर सकता है। उसकी संवेदनशीलता, सौन्दर्यानुभूति, शब्द प्रयोग और अर्थ की सूक्ष्म परख से काव्य उत्कृष्ट श्रेणी में पहुँच जाता है।

3. उपादान कारण– लोक शास्त्र के अध्ययन, सुकवि के साथ संगत, काव्य के श्रवण, मनन व अभ्यास से काव्य रचना हेतु सम्यक् आधार भूमि का निर्माण होता है।

वास्तव में कवि अपनी प्रतिभा से अपने परिवेश के प्रति न केवल जागरूक रहता है, बल्कि समाज के सामने उसे रोचक रूप में उजागर करता है। काव्य भूत का गौरवगान, वर्तमान का यथार्थ व भविष्य की कल्पना का सुंदर संयोजन है। प्रतिभा से ही कोई व्यक्ति इस भावानुभूति को उचित शब्दों के माध्यम से सुंदर अर्थों से सजाता है। व्युत्पत्ति व अभ्यास से कवि शब्द–भंडार अर्जित करता है। उसे भावों से पिरोकर मनचाहा अर्थों की माला में गढ़ता है। अतः अभिव्यक्ति के लिए प्रतिभा आवश्यक है। अभिव्यक्ति को प्रभावशाली

व्युत्पत्ति और अभ्यास से बनाया जा सकता है। काव्य के हेतु के रूप में प्रतिभा, व्युत्पत्ति, और अभ्यास इन तीनों को संस्कृत, हिंदी और पाश्चात्य विचारकों ने प्रमुख हेतु के रूप में स्वीकार किया है। सभी ने प्रतिभा को सर्वोपरि स्थान दिया है। साथ ही ये भी माना है कि प्रतिभा के साथ अभ्यास और व्युत्पत्ति से प्रतिभा निखर जाती है।

संदर्भ ग्रंथ :–

1. सिंह, उमेश कुमार, भारतीय काव्य शास्त्र : काव्य हेतु, भोपाल : रामप्रसाद एडं संस, पृष्ठ– 25.
2. श्रीवास्तव, अर्चना, भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, संस्करण : 2015, पृष्ठ– 14.
3. शर्मा, वेंकट, काव्यशास्त्रीय निबन्ध, दिल्ली : पल्लव प्रकाशन, संस्करण : प्रथम 1987, पृष्ठ– 176.
4. सिंह, उमेश कुमार, भारतीय काव्यशास्त्र, रामप्रसाद एण्ड संस : भोपाल, पृष्ठ– 27.
5. लवनिया, रमेशचन्द्र, काव्य–शक्ति (काव्यशास्त्रीय निबन्धों का संकलन), दिल्ली : नीरज बुक सेंटर, संस्करण : प्रथम 1985, पृष्ठ–23.
6. श्रीवास्तव, अर्चना, भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, संस्करण : 2015, पृष्ठ–17.

■■

(3)
काव्य प्रयोजन

दिनेशकुमार संजय

काव्य प्रयोजन का अर्थ है – काव्य रचना के उद्देश्य या काव्य रचना से प्राप्त फल। जैसे – धन, यश, आनंद, आत्मशांति आदि।

काव्य प्रयोजन के संबंध में संस्कृत आचार्यों के मत –

(1) मम्मट

इन्होंने अपने ग्रंथ 'काव्य प्रकाश' में लिखा है –

''काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृतये, कान्तासम्मित तयोपदेशयुजे।।''

अर्थात् (1) यश प्राप्ति, (2) अर्थ प्राप्ति, (3) व्यवहार ज्ञान, (4) अनिष्ट निवारण, (5) तात्कालिक आनंद और (6) कान्तासम्मित उपदेश। काव्य के इन प्रयोजनों में से यश प्राप्ति, अर्थ प्राप्ति, अनिष्ट निवारण (शिवेतरक्षतये) कवि के लिए है तथा शेष व्यवहार ज्ञान, तात्कालिक आनंद और कान्तासम्मित उपदेश (प्रेयसी के समान मधुर उपदेश) सहृदय पाठक के लिए है।

(2) भरत मुनि

भरत मुनि के काल तक नाटक और काव्य में कोई अन्तर नहीं था। ''काव्येषु नाटकं रम्यं'' भी कहा गया है। अतः उनके द्वारा बताए गए प्रयोजन नाटक के सन्दर्भ में ही हैं, परन्तु उन्हें काव्य के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है। उनके अनुसार,

---

* जन्म तिथि : 04 अक्टूबर 1983, माता : श्रीमती रामकुँवर संजय, पिता : श्री गंगाराम संजय, सम्प्रति : सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), महात्मा गांधी शासकीय कला एवं विज्ञान स्नातकोत्तर महाविद्यालय खरसिया, आवासीय पता : ग्राम पोस्ट – चिखली, जिला – रायगढ़ (छ.ग.), मो0 नं0 : 7898680604, मेल आई डी : dineshsanjay1983@gmail.com

''धर्म्यं यशस्यम् आयुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यम एतद् भविष्यति।।''

अर्थात् एक नाटक (नाट्य काव्य) लेखन के निम्न छह प्रयोजन माने जा सकते हैं–

(i) धर्म,
(ii) यश,
(iii) आयु,
(iv) हित,
(v) बुद्धि का विकास,
(vi) लौकिक ज्ञान।

(3) भामह

भामह के अनुसार सत् काव्य के सेवन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष; इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। साथ ही कलाओं में कुशलता तथा कीर्ति और प्रीति (प्रसन्नता) की प्राप्ति होती है। इनके अनुसार,

''धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्य निवेषणम्।।''

भामह का यह प्रयोजन कवि और पाठक दोनों पर लागू हो सकता है। कीर्ति या यश का लाभ कवि को होता है, प्रीति या प्रसन्नता कवि और पाठक दोनों को मिलती है। सत् काव्य की रचना से कवि अमर यश को प्राप्त कर लेता है। जैसे– रामचरितमानस, कामायनी, राम की शक्तिपूजा आदि से कवियों को स्थायी कीर्ति प्राप्त हुई।

(4) वामन

वामन के अनुसार –

''काव्यं सद् दृष्ट अदृष्टार्थं प्रीति कीर्ति हेतुत्वात्।''

अर्थात् काव्य के दो प्रयोजन हैं –

(1) प्रीति अथवा आनन्द साधना,

(2) कीर्ति अथवा यश प्राप्ति।

इनमें से कीर्ति अदृष्ट प्रयोजन है। जो दिखाई नहीं देता और प्रीति दृष्ट प्रयोजन है। कीर्ति कवि से संबंधित होता है और प्रीति (आनन्द) कवि और पाठक दोनों से।

(5) रुद्रट

रुद्रट ने काव्य प्रयोजनों पर अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार किया है। उनके अनुसार, काव्य रचना द्वारा यश, अर्थ, विपत्ति, विनाश, असाधारण सुख, समस्त अभीष्ट कामनाओं तथा परम पुरुषार्थों की सिद्धि आदि फल प्राप्त होते हैं। उनका मानना है कि ''जैसे सागर की मणियों को गिनना सम्भव नहीं होता, उसी प्रकार समस्त काव्य प्रयोजनों को गिनना सम्भव नहीं।'' रुद्रट ने कवि को ध्यान में रखते हुए उक्त प्रयोजनों का उल्लेख किया है।

(6) कुंतक

आचार्य कुंतक के अनुसार काव्य के तीन प्रयोजन हैं–

(1) पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति,

(2) व्यवहार ज्ञान,

(3) विलक्षण आनन्द की प्राप्ति।

(7) आनन्दवर्द्धन

आनन्दवर्द्धन के अनुसार,

''तेन बूमः सहृदय मनः प्रीयते .....।''

अर्थात् सहृदयों के मन की प्रसन्नता ही काव्य का मूलभूत प्रयोजन है। उनके अनुसार, रस का आस्वादन काव्य का सर्वमूर्धन्य प्रयोजन है।

(8) राजशेखर

राजशेखर के अनुसार, पाठक की दृष्टि से काव्य का प्रयोजन आनन्द है और कवि की दृष्टि से अमर कीर्ति। कवि की दृष्टि चतुर होती है। वह उसी के प्रभाव से सहृदय पाठकों को आनन्द प्रदान

करता है। यही कवि की अमर कीर्ति का कारण होता है।

(9) अभिनवगुप्त

इन्होंने कवि और पाठक दोनों की दृष्टि से प्रीति को ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना है। उनके अनुसार, कवि को दो फल प्राप्त होते हैं– कीर्ति और प्रीति।

काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध में हिन्दी विद्वानों का मत–

(1) गोस्वामी तुलसीदास

इनके अनुसार, काव्य का प्रयोजन 'स्वान्तः सुखाय' है। फिर भी उनको बुधजनों के आदर की चिन्ता रहती है –

''जो प्रबन्ध बुध नहि आदरहीं।
सो स्त्रम बादि बाल कवि करहीं।।''

गोस्वामी तुलसीदास ने 'स्वान्तः सुखाय' कहकर कवि के सृजन सुख को ही काव्य प्रयोजन माना है।

(2) देव

देव ने 'यश' को काव्य का सार माना है। अर्थात् उनके अनुसार काव्य प्रयोजन 'यश' है। यह बात उनकी निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है–

''ऊँच नीच अरू कर्म बस चलो जात संसार।
रहत भव्य भगवंत जस, नव्य काव्य सुख सार।।''

(3) मैथिलीशरण गुप्त

इनके अनुसार, केवल मनोरंजन करना कवि का उद्देश्य नहीं होना चाहिए, बल्कि कविता उपदेशात्मक होना चाहिए। अर्थात् गुप्त जी के अनुसार काव्य प्रयोजन समाज हित है। वे लिखते हैं–

''केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।''
''मानते हैं जो कला को कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।''

(4) महावीर प्रसाद द्विवेदी

आपके अनुसार, काव्य प्रयोजन ज्ञान और आनन्द है। इस संबंध में आपका यह कथन अवलोकनीय है– 'लेखक का उद्देश्य सदा यही रहा है कि उसके लेखों से पाठकों का मनोरंजन भी हो और साथ ही उसके ज्ञान की सीमा भी बढ़ती रहे।''

(5) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

इनके अनुसार, कविता में केवल मनोरंजन नहीं होना चाहिए, उसमें लोकहित का भाव भी होना चाहिए। उन्होंने लिखा है, ''मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अंतिम लक्ष्य माना जाए तो कविता भी केवल विलास की सामग्री हुई।''

(6) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

इनके अनुसार, काव्य प्रयोजन 'मानव कल्याण' है। उन्होंने लिखा है, ''मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ।''

काव्य प्रयोजन के संबंध में अंग्रेजी विद्वानों का मत –

(1) प्लेटो

प्लेटो के अनुसार, काव्य का प्रमुख प्रयोजन नैतिक उपदेश है। यदि इस प्रयोजन में आनन्द भी शामिल हो जाए तो प्लेटो को काई आपत्ति नहीं है। उनके अनुसार, ''यदि कविता के पक्षधर यह सिद्ध कर सकें कि वह मात्र आनन्ददायिनी ही नहीं है, प्रत्युत राज्य एवं मानव जीवन के लिए उपयोगी भी है तो हम उसे सहर्ष स्वीकार करेंगे।''

(2) अरस्तु

अरस्तु के अनुसार काव्य के दो प्रयोजन हैं– (1) शिक्षा, (2) आनन्द। इसमें आनन्द को अरस्तु ने शिक्षा की अपेक्षा ज्यादा महत्त्व दिया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में शिक्षा भी आनन्द का ही उद्भावक है। "That to learn gives the liveliest pleasure."

(3) वड्र्सवर्थ

वड्र्सवर्थ की दृष्टि में काव्य प्रयोजन नीति और आनन्द दोनों है। वह काव्य का लक्ष्य एक मात्र आनन्द प्रदान करना नहीं मानते।

(4) टालस्टॉय

इनके अनुसार, कला का उद्देश्य मानवता की सेवा करना है। ये 'कला जीवन के लिए' के समर्थक थे। इन्हें 'लोकमंगलवादी' भी कहा जाता है।

(5) आई. ए. रिचड्र्स

इन्होंने 'कला कला के लिए' सिद्धांत को अस्वीकृत करते हुए काव्य के लिए नैतिकता तथा लोकमंगल को आवश्यक माना।

(6) ड्राइडन

ड्राइडन के अनुसार काव्य प्रयोजन मधुर रीति से शिक्षा देना होता है।

(7) कॉलरिज

कॉलरिज के अनुसार कवि अंत में पाठक को नीति का उपदेश देता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य काव्य शास्त्र में काव्य प्रयोजन के संबंध में चार मत हैं–

(1) लोकमंगलवादी– इस मत के अनुसार काव्य का प्रयोजन लोक मंगल या लोकहित है। प्लेटो, रस्किन, टालस्टॉय इस वर्ग के प्रतिनिधि आचार्य हैं।

(2) आनन्दवादी– ये आनन्द को ही काव्य का प्रयोजन मानते हैं। शिलर, शैली इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

(3) नीति सापेक्ष आनन्दवादी– ये नैतिकता से युक्त स्वस्थ आनन्द को ही काव्य का प्रयोजन मानते हैं। अरस्तु, मैथ्यू आर्नाल्ड इस वर्ग के आचार्य हैं।

(4) कलावादी– इनकी दृष्टि में काव्य, काव्य के लिए अथवा

काव्य कला के लिए है। इनके अनुसार जीवन और काव्य का कोई संबंध नहीं होता। इस वर्ग के प्रमुख आचार्य फ्लावर्ट, वाल्टरपेटर है।

सभी आचार्यों के मत का अध्ययन करने के पश्चात् काव्य के निम्नांकित प्रयोजन प्राप्त होते हैं –

(1) धन की प्राप्ति– काव्य का प्रयोजन अर्थ या धन की प्राप्ति है। भारतीय साहित्य के इतिहास में ऐसे कई कवियों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा करके प्रचुर धनराशि प्राप्त की थी। रीतिकालीन कवि बिहारी, केशव आदि ने राज्याश्रय में रहकर प्रचुर धन प्राप्त किया था। बिहारी को एक मोहर प्रति दोहा दी जाने की बात लोक प्रसिद्ध है। कुछ ही कवि हैं जो अपनी सम्पन्नता के कारण आर्थिक चिंता से मुक्त होते हैं।

(2) यश की प्राप्ति– प्रायः कवि यश की प्राप्ति की वजह से ही रचना करते हैं। कवि के लिए तो यश प्राप्ति, काव्य सृजन की प्रमुख प्रेरक शक्ति है। कुछ कवि ऐसे भी हो सकते हैं, जिनका उद्देश्य प्रारम्भ में भले ही यश प्राप्त करना न रहा हो, परन्तु काव्य रचना के बाद वे अपनी रचना की प्रशंसा अवश्य चाहते हैं।

(3) व्यवहार ज्ञान– बहुत–से कवि अपने निकट सम्बन्धियों, मित्रों, पुत्र आदि को नीति एवं व्यवहार की शिक्षा देने के लिए भी काव्य रचना करते हैं। काव्य सुक्तियों आदि से व्यवहार ज्ञान पाठक को सहजता से हो जाता है।

(4) लोक कल्याण – अपने समाज को अनिष्ट से बचाने के लिए भी काव्य रचना की जाती है। कवि का उद्देश्य लोकहित या लोक कल्याण होता है। 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर जी ने मानव को युद्ध की विभीषिका से बचकर शान्ति के मार्ग पर चलने का सन्देश दिया है। प्रगतिवादी कविता का उद्देश्य भी लोक कल्याण रहा है। प्रेमचंद जैसे प्रगतिशील लेखक का उद्देश्य समाज कल्याण ही था।

(5) आनन्द की प्राप्ति– काव्य का मुख्य प्रयोजन तात्कालिक

आनन्द की प्राप्ति है। कवियों को काव्य रचना से अपूर्व शान्ति एवं आनन्द का अनुभव होता है। यह आनन्द कवि और पाठक दोनों को ही प्राप्त होता है।

(6) आत्मानुभूति– काव्य का प्रयोजन आत्मानुभूति है। अपने आपको होने वाली अनुभूति को कवि कविता के माध्यम से प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए महादेवी वर्मा के गीतों को लिया जा सकता है।

(7) नैतिक उपदेश– अपने नैतिक उपदेशों को हृदयस्पर्शी बनाने के लिए कवि कविता को माध्यम बनाता है। कबीर, नानक आदि संत कवियों ने अपने विचारों को कविता के माध्यम से प्रस्तुत किया तथा समाज में फैले बाह्य आडम्बरों को दूर करने का प्रयास किया।

(8) ज्ञान विस्तार– काव्य का प्रयोजन ज्ञान विस्तार भी है। यदि पाठक की दृष्टि से देखें, तो वह अपने ज्ञान में अभिवृद्धि के लिए काव्य पढ़ता है। पुराने जमाने में जब मनोरंजन के साधन नहीं थे, लोग महाकाव्यों को पढ़ते थे। इन महाकाव्यों में मनोरंजन के साथ–साथ बहुत–से ज्ञान की बातें होती थीं।

निष्कर्ष–

समस्त विद्वानों के मतों का अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य का मुख्य प्रयोजन आनन्द की प्राप्ति है। कवि और पाठक दोनों के लिए काव्य प्रयोजन अलग–अलग होता है। सामान्य पाठक निश्चित ही आनन्द की प्राप्ति के लिए काव्य पढ़ता है।

संदर्भ ग्रंथ :–

1. डॉ. उषा शुक्ल, भारतीय काव्य शास्त्र।
2. नेट (विकिपीडिया)।
3. अध्ययन आधारित स्वज्ञान।

■■

(4)
काव्य प्रकार

हेमपुष्पा नायक

हर कार्य का एक कारण अवश्य होता है, अर्थात् कोई भी कार्य को करने के पीछे कर्ता का कोई उददेश्य होता ही है। मानव की नियति ही प्रवृत्तिमूलक होती है। यह प्रवृत्ति हेतु से ग्रहित होती है। यही हेतु ही मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त करता है। काव्य या साहित्य की सर्जना के पीछे भी सर्जक का कोई उद्देश्य अवश्य ही रहता है। यही उद्देश्य ही काव्य प्रयोजन कहलाता है और इसी प्रयोजन से प्रेरित होकर वह काव्य की रचना करता है। यदि काव्य की रचना हो रही है, तो उसके प्रकार भी अलग–अलग होते हैं। इसी काव्य प्रकार का अध्ययन हम इस पाठ में करेंगे।[1]

काव्य के प्रकार

काव्य के प्रधान दो प्रकार हैं–

(1) पद्य,

(2) गद्य।

काव्य (पद्य)– 1. प्रबंध काव्य, 2. मुक्तक काव्य, 3. चम्पू काव्य।

प्रबंध काव्य – 1. महाप्रबन्ध, 2. खण्ड प्रबन्ध।

मुक्तक काव्य – 1. पद्य मुक्तक, 2. गीति मुक्तक।

महाप्रबन्ध – 1. पुराण, 2. आख्यान, 3. महाकाव्य।

---

* जन्म तिथि : 20/10/1983, पति : श्री नवनीत नायक, योग्यता : एम. ए., सेट, नेट, जे आर एफ, एम फिल, सम्प्रति : सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), शासकीय नवीन महाविद्यालय बिर्रा, जिला– जांजगीर चाम्पा, मो. नं. : 9340188873, मेल : hempushpa283@gmail.com

छन्दबद्ध रचना पद्य कहलाती है। और छन्दहीन रचना को गद्य कहा जाता है। पद्य में छन्दों के नियमों का पालन होता है। उसके अन्तर्गत एक नियमित गति या लय का निर्वाह होता है। यह लय काव्य को एक विलक्षण आकर्षण संगीतात्मकता और स्मरणीयता प्रदान करती है। रचनाकार एक–एक शब्द को सोच समझकर बैठाता है। इस प्रकार कल्पना, भाव और विचार की दीप्ति से ज्योतित वे शब्द नियमित गति में बंधकर एक सौंदर्य प्राप्त करते हैं, जैसे शब्द नृत्य कर रहे हों। पद्य शब्दों का नर्तन है और गद्य सामान्य गति। गद्य में व्याकरणिक नियमों का पालन होता है। एक पुरानी उक्ति है– ''अपि माषं मषंकुर्यात् छन्दोभंगं न कारयेत्।'' पद्य में अर्थ से अधिक महत्व छन्द के नियम का रहता है। आधुनिक काल में इन्ही छन्दों के नियमों की पर्याप्त शिथिलता बरती जा रही है।[2]

काव्य के परंपरागत रूप से प्रबंध और मुक्तक दो भेद माने जाते हैं। प्रबंध के भी दो भेद माने जाते हैं– महाकाव्य और खण्ड काव्य। संस्कृत के आचार्यों ने गद्य और पद्य दोनों के रूप में मिश्रित विरचित काव्य को चम्पू नाम दिया है। चम्पू का लक्षण भी यही है –

''गद्य पद्य मयं काव्यं चम्पू इत्यभिधीयते।''[3]

प्रबन्ध वह काव्य रचना है, जिसके छन्द कथा सूत्र की व्यवस्था में पिरोये रहते हैं। उसके छन्दों का क्रम बदला नहीं जा सकता है। प्रबन्ध काव्य में संगठन कथानक के द्वारा किया जाता है। हम देखते हैं कि कहीं–कहीं किसी महापुरूष के जीवन की एक झॉकी तथा

घटना ही वर्णित करना अभीष्ट होता है और कहीं–कहीं पूर्ण जीवन का व्यापक चित्रण मिलता है। इस दृष्टि से प्रबन्ध काव्य दो रूपों में देखा जा सकता है– एक महाप्रबन्ध और दूसरा खंड प्रबन्ध या खण्ड काव्य। महाप्रबन्ध में पूर्णता के साथ जीवन के विविध अंगों और घटनाओं का विशद, व्यापक और सजीव चित्रण होता है। इसके लिए महाप्रबन्ध के नायक अथवा नायकों को उत्कृष्ट और उदात्त चरित्र का होना आवश्यक है। महाप्रबन्ध के तीन रूप

देखे जा सकते हैं–[4]

01. पुराण,

02. आख्यान,

03. महाकाव्य।

पुराण – पुराण वह महाप्रबंध है, जिसके अन्तर्गत विभिन्न सर्गों और स्कन्धों में सृष्टि के प्रारम्भ और विकास की युग–युगान्तरव्यापी कथा कही गयी हो। उसमें ईश्वर के अवतारों या अवतारी पुरूषों, महात्माओं या ऋषि मुनियों की अनेक कथाएं ईश्वर के किसी विशिष्ट रूप ऐश्वर्य के प्रतिपादन के निमित्त वर्णित की गयी हों, इसके अन्तर्गत भक्ति की महिमा तथा सज्जनों की विजय और दुर्जनों के पराभव के द्वारा सद्‌गुणों की समाज में प्रतिष्ठा की गयी हो। पुराण अत्यन्त विस्तृत महाप्रबंध है। इसमें अनेक स्कन्धों में अनेक अध्याय भी होते हैं। प्रायः पुराण का विकास किसी के प्रश्न के उत्तर में या शंका निवारण के रूप में विविध आख्यानों के द्वारा होता है और अनेक आख्यान प्रतिपाद्य सिद्धान्त की पुष्टि और देवीय ऐश्वर्य की महत्ता का चित्रण करते हुए व्यवस्थित ढंग से समाप्त होकर कथा की श्रृंखला को आगे बढाते हैं। जो अत्यन्त विस्तृत और महत्वपूर्ण होते हैं, उन्हें महापुराण की संज्ञा दी जाती है। जैसे श्रीमद्‌भागवत महापुराण में मंगलाचरण से कथा प्रारम्भ होती है और प्रत्येक अध्याय के उपसंहार में प्रसंग का निर्देशन होता है। साथ में पुराण महात्मय का अनुकथन भी रहता है। बीच के वर्णन भी प्रायः वार्तालाप के रूप में होते हैं, परन्तु उनमें किसी वस्तु, भाव, तथ्य या सिद्धान्त का अत्यन्त विशद रूप में विस्तार के साथ प्रतिपादन होता है। पुराण के पात्र प्रायः प्रागैतिहासिक होते हैं। पात्रों के अलौकिक और आश्चर्यजनक कृत्यों का वर्णन बड़ा ही रोचक और कौतूहलवर्धक होता है।[5]

पुराण हिन्दुओं के धर्म संबंधी आख्यान ग्रन्थ हैं, जिनमें संसार, ऋषियों, राजाओं के वृतान्त आदि हैं। ये वैदिक काल के बहुत समय बाद के ग्रन्थ हैं, जो स्मृति विभाग में आते हैं। भारतीय जीवन धारा

में जिन ग्रन्थों का महत्वपूर्ण स्थान है, उनमें पुराण प्राचीन भक्ति ग्रन्थों के रूप में बहुत महत्वपूर्ण माने जाते हैं।[6]

भारतीय साहित्य में अठारह पुराण माने गए हैं, जिनके नाम हैं – ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, पद्मपुराण, श्रीमद्भागवत, नारदपुराण, मार्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, लिंगपुराण, बाराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरूडपुराण और ब्रहमाण्डपुराण।

पुराण का शाब्दिक अर्थ है– प्राचीन या पुराना। पुराणों की रचना मुख्यतः संस्कृत में हुई है। किन्तु कुछ पुराणों की रचना क्षेत्रीय भाषाओं में भी हुई है।[7] कर्मकाण्ड (वेद) से ज्ञान (उपनिषद्) की ओर आते हुए भारतीय मानस में पुराणों के माध्यम से भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित हुई है। विकास की इसी प्रक्रिया में बहुदेववाद और निर्गुण ब्रम्हा की स्वरूपात्मक व्याख्या से धीरे–धीरे मानस अवतारवाद या सगुण भक्ति की ओर प्रेरित हुआ।[8]

आख्यान– आख्यान वह विस्तृत प्रबंध है, जिसमें प्रेम, नीति, भक्ति, वीरता आदि के निरूपण के लिए काल्पनिक रोचक कथानक का सरस मधुर शैली में वर्णन होता है। इसके अन्तर्गत भी विभिन्न प्रसंग या खण्ड हो सकते हैं। आख्यान को प्रामाणिक–सा बनाने के लिए इसमें कतिपय ऐतिहासिक स्थानों और नामों का समावेश भी कर लिया जाता है। इसमें एक प्रधान या प्रमुख कथा और अन्य कुछ गौण कथाएं संगठित रहती है। इसके प्रमुख भेद– प्रेमाख्यान, नीत्याख्यान, साहसिक आख्यान आदि हैं, जैसे– इन्द्रावती, मृगावती, नलोपाख्यान, ढोला मारू रा दुहा, छिताई वार्ता आदि।[9]

आख्यान या अनुश्रुति शब्द आरम्भ से ही सामान्यतः कथा या कहानी के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। आख्यानों की सत्ता का प्रमाण ऋग्वेद की संहिता में ही हमें उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के भीतर 30 आख्यानों का स्पष्ट निर्देश किया गया है। ऋग्वेद से भिन्न वैदिक ग्रंथों में भी आख्यानों का विवरण दिया गया है। पुराणों में भी

आख्यान वर्णित हैं।[10] आख्यानों की शिक्षा मानव समाज के सामूहिक कल्याण तथा विश्व मंगल की अभिवृद्वि के निमित्त है। प्रत्येक आख्यान के अंतस्तल में मानवों के शिक्षाणार्थ तथ्य अंतर्निहित है। आख्यानों के पीछे उद्देश्य है– ईश्वर में अटूट श्रध्दा तथा मानव से घनिष्ट प्रेम।[11]

महाकाव्य– बंध अर्थात एक सुनिश्चित क्रम के आधार पर रचित भाव प्रधान तथा विषय प्रधान काव्य के दो प्रमुख भेद माने जाते हैं– प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य के भी दो भेद माने जाते हैं– महाकाव्य और खण्ड काव्य। महाकाव्य शब्द महत् और काव्य दो शब्दों से मिलकर बना है। इसमें पहला शब्द विशेषण और दूसरा विशेष्य है। महाकाव्य शब्द में विशेष्य का अधिक महत्व है। अतः इस शब्द में भी काव्य ही प्रमुख है और दोनों शब्दों का अर्थ है बडा काम, क्योकि महत्व से विशाल उत्कृष्ट का भी भाव प्रकट होता है।[12] महाकाव्य के लिए 'महत्' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मिकी रामायण में हुआ है। श्री राम ने अपनी कथा का वर्णन सुनने के बाद लव–कुश से कहा–इस विशाल आकार वाले काव्य के कर्ता कौन हैं–

'किम् प्रमाणमिदम्काव्यम् का प्रतिष्ण महात्मनः।
कर्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुंगवः।।'[13]

इस श्लोक में यह तो स्वतः ध्वनित होता है कि इसमें किसी महान् व्यक्त्वि के चरित्र की प्रतिष्ठा होती है। महाकाव्य काव्य की सर्वश्रेष्ठ और महत्वपूर्ण विधा है। इसमें किसी प्रसिध्द के आधार पर किसी जाति या समाज की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परम्पराओं का सफल नियोजन किया जाता है। इसी कारण भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों एवं विचारकों ने आरम्भ से ही इसका विस्तृत विवेचन किया है। वस्तुतः महाकाव्य अपने युग का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता, अपितु वह अतीत का गायक, वर्तमान का चित्रकार और भविष्य का

दृष्टा होता है।[14] महाकाव्य को परिभाषा में बांधना अत्यंत कठिन है, क्योंकि विभिन्न युगों में उसके स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। इसी से विभिन्न युगों के आचार्यों ने इसके भिन्न–भिन्न मानदण्ड स्थिर करने के प्रयास किए हैं।

महाकाव्य संबंधी भारतीय मान्यताएँ–

संस्कृत साहित्य शास्त्र में महाकाव्य की विशद विवेचना और मीमांसा की गई है। इन आचार्यों में भामह, दण्डी, रूद्रट, अग्निपुराणकार और आचार्य विश्वनाथ प्रमुख हैं। आचार्य भामह ने सर्वप्रथम अपने काव्यालंकार में महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है–

आचार्य भामह के अनुसार– महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। महापुरूषों के चरित्र का वर्णन करने से वह स्वयं भी महान होता है। इसका कथानक पांचनाट्य संधियों में विभक्त रहता है। इसमें चतुर्वर्ग का वर्णन होने पर भी अधिकतर अर्थ अर्थात् लौकिक अभ्युदय का उपदेश होना चाहिए। अर्थात यह लौकिक आचार व्यवहार का निरूपक होना चाहिए। इसकी भाषा अलंकारयुक्त और शिष्ट होती है। इसका वर्णन और शैली सरल सुबोध होती है।[15]

आचार्य दण्डी के अनुसार– दण्डी ने भामह प्रतिपादित लक्षणों का आधार ग्रहण करते हुए कुछ नूतन तत्वों का समावेश किया है, जिसमें से अधिकतर भामह समस्त घटकों का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। दण्डी के समस्त महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं–

- महाकाव्य सर्गों से बद्ध होता है, जो बहुत बड़े नहीं होते हैं। इनका आरम्भ आशीर्वाद, नमस्कार तथा कथावस्तु के निर्देश से होता है।
- इसका कथानक ऐतिहासिक अथवा इतिहासेत्तर सत्पुरूष के जीवन पर आधारित होता है। नायक उदात्त होता है, अंत में उसका उत्कर्ष दिखाया जाता है।

- इसमें नगर, पर्वत, समुद्र, सूर्योदय, उद्यान आदि का वर्णन होता है। यह अनेक वृतान्तों से अलंकृत होता है।
- इसकी भाषा सरल और अलंकृत होती है। इसमें छन्दों का प्रयोग रहता है और सर्ग के अन्त में छन्द बदल जाता है।
- इसमें रस और भाव का प्रवाह निरन्तर बना रहता है। रूद्रट ने भामह और दण्डी के महाकाव्य विषयक लक्षणों का आधार पर बहुविध नूतन सामग्री से युक्त महाकाव्य के लक्षण दिए हैं। इन्होंने महाकाव्य के कथानक की संरचना को विशिष्ट प्रकार की विशेषता के युक्त माना है।[16]

अग्निपुराण के अनुसार–

अग्निपुराण द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं–

- सर्गबद्ध को महाकाव्य कहते हैं।
- इसका आरम्भ संस्कृत से होता है।
- इसका वृत्त इतिहास कथा से अथवा इतिहासेत्तर व्यक्ति से संबंधित हो।
- इसमें मंत्रणा, दूतप्रेषण, युद्ध आदि का वर्णन हो, किन्तु अतिविस्तृत न हो।
- इसमें नगर, पर्वत, समुद्र, चन्द्रमा, सूर्य, आश्रम, उद्यान, जल–क्रीडा, उत्सव आदि का लोकातीशायी वर्णन किया जाए।
- इसका नायक चतुर्वर्ग की प्राप्ति करे।
- इसमें शक्वरी, अतिशक्वरी, जगती आदि छन्दों का प्रयोग हो।
- इसमें सभी वृत्तियों, रीतियों और गुणों का प्रयोग हो और सभी रसों से पुष्ट हो।[17]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार–भामह, दण्डी, रूद्रट और अग्निपुराणकार के अतिरिक्त कुछ अन्य स्त्रोतों से भी विशिष्ट सामग्री को ग्रहण करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' में महाकाव्य के लक्षण अपेक्षाकृत स्वच्छ और विशद रूप में प्रस्तुत

किए हैं–

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सव्दंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः।
एक वंशभवा भूपाः कुलजा बहवो पि वा।।
श्रृंगारवीर शान्तानामेकों गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेपि रसाः सर्वे नाटक संघयः।।
इतिहासोदभवं व त्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारः तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।।
कवेर्वत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्यवा।[18]

अर्थात महाकाव्य सर्गबध्द होता है। उसमें धीरोदात्त नायक होता है। उसमें श्रृंगार शान्त और वीर रसों में से एक अंगीरूप से रहता है, नाटक की सब सन्धियॉ होती हैं। उसमें लोक प्रसिद्ध कथा होती है। चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होता है। एक सर्ग में एक छन्द होता है, किन्तु अन्त में पद्य भिन्न छन्दवाला होता है। उसका नाम कवि अथवा चरित नामक के नाम से होना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ की विवेचना अधिक स्पष्ट, प्रौढ और सर्वांगीण दृष्टि से उपादेय है। उसमें महाकाव्य संबंधी तत्वों का पूर्ण विकास हुआ है। इस दृष्टि से उसे निम्नलिखित सात भागों में व्यवस्थित कर सकते हैं–

01. कथावस्तु– महाकाव्य की कथा विस्तृत और पूर्ण जीवन गाथा होती है। वह आठ से अधिक सर्गों में संगठित होती है। कथा का प्रारम्भ आशीर्वचन और मंगलाचरण आदि से होता है। सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग की कथा की सूचना होनी चाहिए तथा किसी महापुरूष, सज्जन की वास्तविक जीवन गाथा पर आधारित होनी चाहिए।

02. नायक – महाकाव्य का नायक कोई देवता, उच्च कुलोत्पन्न क्षत्रिय अथवा एक वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी हो सकते हैं। जैसे– रघुवंश में, परन्तु उनमें धीरोदात्त गुणों का होना आवश्यक है।

03. रस – महाकाव्य में सभी रसों का होना आवश्यक है, परन्तु मुख्य रूप से श्रृंगार, वीर, शान्त इन तीन रसों में से एकाकी प्रमुखता अनिवार्य है। इस प्रकार महाकाव्य में विविध सुख और दुखमयी परिस्थितियों का सम्पूर्ण चित्रण अनिवार्य है।

04. छन्द – एक सर्ग में एक ही छन्द अनिवार्य है। सर्ग के अन्त में छन्द बदलना चाहिए। छन्द चमत्कार या अद्‌भुत रस की निष्पत्ति के लिए एक सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है।

05. वर्णन – महाकाव्य में विविधता और यथार्थता दोनों का होना आवश्यक है। अतः जीवन के सभी दृश्यों, प्रकृति के विभिन्न रूपों और विविध भावों का वर्णन महाकाव्य में आवश्यक है। उसमें सज्जनों की प्रशंसा और दुर्जनों की निन्दा का भी विधान होना चाहिए, ताकि समाज में एक आदर्श की स्थापना हो सके।

06. नामकरण – महाकाव्य का नाम कवि, नायक या कथावस्तु के आधार पर होता है। व्याप्तवृत्त होने के कारण उसके सम्बन्ध में भाव हमारे अन्दर पहले से ही विद्यामान रहते हैं, जो वर्णन के द्वारा जागृत हो जाते हैं।

07. उद्‌देश्य – महाकाव्य का उद्‌देश्य धर्मार्थ, काम–मोक्ष की प्राप्ति के लिए माना गया है। इसका विश्लेषण करें, तो हम देखते है कि नायक या तो परोपकार के कार्य या सिद्वान्त की रक्षा के लिए अपने जीवन को व्यतीत करता है या विजय द्वारा किसी समृद्धि को प्राप्त करता है। इन उद्‌देश्यों की प्राप्ति के लिए संघर्ष, साधना, चरित्र विकास तथा अन्य उच्च गुण आवश्यक है। इनका चित्रण विभिन्न परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में किया जाता है।[19]

महाकाव्य संबंधी पाश्चात्य धारणाएँ

पाश्चात्य महाकाव्य का मूल अरस्तु के काव्यशास्त्र में मिलता है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि महाकाव्य काव्य का वह भेद है, जिसका रूप समाख्यानात्मक हो, उसमें एक छन्द का प्रयोग

हो, उसमें उच्चतर चरित्रों का वर्णन हो, उसका आधार विस्तृत हो, उसके वस्तु संगठन में गरिमा और घनत्व हो।[20]

प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल के अनुसार– महाकाव्य व्यक्ति विशेष का चरित्र होते हुए भी सार्वभौम व्यापकता रखता है। इसमें कवि का व्यक्तिगत दृष्टिकोण रहता है, इसमें इतिहास प्रसिद्ध वृत्त अनिवार्य है। एपिक का नायक मानवता की भावना से पूर्ण और सार्वभौम गुणों से युक्त ऐतिहासिक स्तर पर प्रतिष्ठित व्यक्ति होना चाहिए। महाकाव्य में दैवीय घटनाएं सहज रूप में आनी चाहिए।[21]

इस प्रकार महाकाव्य संबंधी पाश्चात्य धारणा का विश्लेषण करने पर निम्न तथ्य सामने आते हैं–

(1) कथानक – महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक हो। उसमें काल्पनिक घटनाओं का भी समावेश हो। कथानक इतना व्यापक हो कि उसमें जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन किया जा सके।

(2) चरित्र–चित्रण – चरित्र–चित्रण में नायक पर विशेष ध्यान दिया गया हो। नायक को ऐतिहासिक सुविख्यात व्यक्ति होना चाहिए। वह उच्च गुणों वाला और प्रतिष्ठित परिवार का हो।

(3) वर्णन – पाश्चात्य धारणा के अनुसार महाकाव्य वर्णन प्रधान रचना है, जिसमें व्याख्यान और महाकाव्य दोनों की धारणा सम्मिलित है। उसमें समस्त घटनाओं का वर्णन अत्यन्त रोचक और सरल ढंग से होना चाहिए।

(4) शैली – महाकाव्य में वीर छन्द का प्रयोग होना चाहिए। किन्तु यह तभी सम्भव है, जब उसका वर्णन वीर भाव तक सीमित हो। उसमें प्रेम, करूणा, भक्ति आदि का वर्णन हो। उन्हीं के अनुरूप छन्दों का वर्णन हो। इस दृष्टि से शैली, विषय और वर्णन के अनुरूप होनी चाहिए।

(5) उद्देश्य – महाकाव्य महान उद्देश्य को व्यापक प्रभाव के साथ प्रस्तुत करता है। अरस्तु महाकाव्य का उद्देश्य सत्य का

उद्घाटन मानते हैं।[22]

खण्डकाव्य

संस्कृत आचार्यों के अनुसार – संस्कृत आचार्यों में रूद्रट ने प्रबंन्ध को महान और लघु दो रूपों में विभक्त किया है। लघुकाव्य का स्वरूप निर्धारण करते हुए उन्होंने कहा है कि इसमें चतुर्वर्ग फल में से कोई एक हो तथा किसी एक रस का पूर्ण रूप से अथवा अनेक रसों का अपूर्ण रूप से वर्णन होना चाहिए। दर्पणकार विश्वनाथ को 'खण्डकाव्य' नाम और उसकी निश्चित कल्पना का श्रेय दिया जा सकता है। उन्होंने भाषा और विभाषा में रचित सर्गबद्ध समस्त संधियों से रहित एक कथा के निरूपक पद्यबद्ध रचना को काव्य की संज्ञा दी है और उसके 'एक देश' के अनुसरण करने वाली रचना को खण्डकाव्य कहा है।[23]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार – महाकाव्य के ही ढंग पर जिस काव्य की रचना होती है, जिसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है, उसे खण्डकाव्य कहते हैं। यह खण्ड जीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है कि प्रस्तुत रचना के रूप में स्वतः पूर्ण होता है।[24]

वस्तुतः खण्डकाव्य किसी रूप का खण्ड मात्र नहीं है। अपितु यह शब्द अनुभूति के उस प्रभाव की ओर संकेत करता है, जिसमें जीवन अपने संपूर्ण रूप में कवि को प्रभावित न कर आंशिक अथवा खण्ड रूप में प्रभावित करता है।[25]

गीतिकाव्य

मुक्तक काव्य – जिस काव्य में किसी जीवन–कथा या घटना की अनुभूति का बंधन न हो, उसे 'मुक्तक' या 'स्वतंत्र' काव्य कहते हैं। मुक्तक का प्रत्येक पद स्वतंत्र होता है। प्रत्येक पद अपने आप में पूर्ण होता है। इसके दो मुख्य भेद माने जाते हैं– गेय मुक्तक या गीतिकाव्य और पाठ्यमुक्तक या अगीतिकाव्य। इन दो भेदों में से प्रगीत या गीतिकाव्य का विशेष महत्व है।

परिभाषा :–

हरवर्ट रीड : ''गीत साधारणतया उस रचना को कहते हैं, जिसमें सूक्ष्म अनुभूति हो, अथवा इन अनुभूतियों की वे प्रतिक्रियाएँ हो, जो एकांत आनंद से जागृत होती है।''

श्यामसुंदर दास : ''गीतिकाव्य में कवि अपनी अंतरात्मा में प्रवेश करता है और बाह्य जगत् को अपने अंतःकरण में ले जाकर उसे अपने भावों से रंजित करता है।''

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि कलाकार की व्यक्तिगत अनुभूति को गीति काव्य व्यक्त करता है। अतः गीतिकाव्य की निम्न विशेषताएँ (लक्षण) हैं –

1. वैयक्तिक अनुभूति –

गीतिकाव्य में व्यक्ति के निजी सुख–दुःख की भावनाओं का गायन अथवा सहज उच्छलन होता है। प्रगीत में एक ही भाव या अनुभूति होती है। अनुभूति की तीव्रता से गीत का जन्म होता है।

2. संगीतात्मकता –

प्रगीत में काव्यमयता के साथ–साथ संगीतात्मकता का संचार रहता है। भाषा शैलीबद्ध होती है, जिसके कारण अपने आप संगीतात्मकता उत्पन्न होती है।

3. गेयता –

गीतिकाव्य गाये जाने योग्य होना चाहिए। यह इसका मूलभूत आधार है। विभिन्न रागों में प्रगीत गाये जाते हैं।

4. भाषा की कोमलता –

प्रगीत के लिए मधुर तथा कोमल भाषा आवश्यक होती है। इस कारण प्रगीत में कोमलकांत पदावली का ही प्रयोग होता है। लयात्मकता इसका प्रमुख गुण है।

5. संक्षिप्तता –

प्रगीत में एक ही भाव की अनुभूति होती है। अतः संक्षिप्तता अपने आप आ जाती है। प्रभाव की दृष्टि से भी संक्षिप्तता आवश्यक

है।

चंपू काव्य –

काव्य शास्त्र में गद्य और पद्य के मिले –जुले काव्य को चंपू काव्य कहते हैं।

निष्कर्ष –

काव्य या कविता के प्रकारों पर विचार करने के बाद पता चलता है कि विभिन्न युगों के आचार्यों ने महाकाव्य और खंडकाव्य विधाओं का सूक्ष्म अध्ययन करके लक्षण प्रस्तुत किए हैं। लेकिन खंडकाव्य में महाकाव्य के ही लक्षणों को आंशिक रूप से स्वीकारा है। गीतिकाव्य की परिभाषाएँ उसके एक–एक लक्षण को लेकर भले ही लिखी गई हो, लेकिन उसका स्वरुप स्पष्ट करने में सक्षम है।

संदर्भ :–

(1) साहित्य शास्त्र–भारतीय और पाश्चात्य (डॉ. विनोद कुमार)।
(2) काव्य शास्त्र (डॉ. भगीरथ मिश्र)।
(3) भारतीय काव्य शास्त्र (डॉ. तारक नाथ बाली)।
(4) भारतीय काव्यशास्त्र (डॉ. उमेश कुमार सिंह)।
(5) Internet.
(6) Internet.
(7) Internet.
(8) Internet.
(9) भारतीय काव्यशास्त्र (डॉ. उमेश कुमार सिंह)।
(10) Internet.
(11) संदर्भ–ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, एस. एन. दासगुप्त एण्ड एस के देव, (पृ–43)।
(12) साहित्य शास्त्र – भारतीय और पाश्चात्य (डॉ. विनोद कुमार)।
(130) साहित्य शास्त्र – भारतीय और पाश्चात्य (डॉ. विनोद कुमार)।
(14) काव्य शास्त्र एवं साहित्य लोचन (पृ–22)।
(15) वही (पृ–22)।

(16) वही (पृ–23)।
(17) वही (पृ–23)।
(18) वही (पृ–24)।
(19) वही (पृ–25)।
(20) वही (पृ–25)।
(21) वही (पृ–25)।
(22) वही (पृ–26)।
(23) वही (पृ–27)।
(24) वही (पृ–27)।
(25) वही (पृ–28)।

■■

(5)

रस सिद्धांत का स्वरूप और रस निष्पत्ति

प्रमिला पटेल

रस का स्वरूप

भारतीय मनीषियों ने जीवन के परम उद्देश्य के रूप में अलौकिक आंनद स्वरूप तत्व (ब्रम्ह रस) का विवेचन किया है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक रस ही भारतीय आलोचना का मानदण्ड बना हुआ है। आचार्य भरतमुनि (200ई.पू) को रस सम्प्रदाय का मूल प्रवर्तक माना जाता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम रस का निरूपण एवं विवेचन अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में किया। इसलिए उन्हें रस निरूपण का प्रथम व्याख्याता एवं उनके ग्रंथ नाट्यशास्त्र को रस निरूपण का प्रथम ग्रंथ माना जाता है।

रस शब्द रस धातु और अ् प्रत्यय के योग से उत्पन्न हुआ है। इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है– रस्यते आस्वाद्यते इति रसः। अर्थात् जो आस्वादित किया जाए अथवा जो बहता है, वह रस है। शब्दकोष में रस के अनेक अर्थ हैं – स्वाद, गन्ध, राग, श्रृंगार, द्रव, वीर्य, अम्बू, पारद। विष के अर्थ का द्योतक भी रस शब्द है।

सामान्यतः रस शब्द का प्रयोग चार अर्थों में होता है–

---

* जन्म तिथि : 05/8/1974, पति : श्री पनिक राम पटेल, योग्यता : एम. ए., सेट, नेट, सम्प्रति : सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), शशिधर पण्डा शासकीय महाविद्यालय सरिया, मो. : 9589578886,

मेल– patelpramila480@gmail.com

1. पदार्थों का रस– तिक्त, अम्ल, कषाय, कटु आदि।

2. आयुर्वेद का रस– पारद का रस।

3. साहित्य का रस– राग, करूण, वीर, श्रृंगार, नीति, भाव आदि।

4. मोक्ष या भक्ति का रस– ब्रम्हानन्द।

किसी वस्तु की स्वरूप प्रक्रिया का तात्पर्य है– उसके स्वनिष्ठ रूप को उसके लक्षण और परिभाषण से लक्षित और परिभाषित करना। रस प्रक्रिया में रस के ऐसे ही स्वरूप प्रक्रिया का विचार किया जाता है। रस के स्वनिष्ठ रूप अथवा स्वरूप का व्यापक अर्थ है– काव्यानंद। सामान्यतः काव्यानंद को ही काव्य रस का स्वरूप माना जाता है।

आचार्य भरत का मत–

आचार्य भरत का मत है कि नानाभावोपगात स्थायी भाव ही रस है। जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधि एवं द्रव्य पदार्थों के मिश्रण से भोज्य रस की निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों के संयोग से स्थायी भाव भी नाट्य रस को प्राप्त हो जाते हैं।

विश्वनाथ का मत–

आचार्य विश्वनाथ के मत ने रस के स्वरूप को सर्वमान्य निष्कर्ष तक पहुँचने में महत्वपूर्ण योग दिया है। उनके मतानुसार रस का स्वरूप निम्नानुसार है–

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाषानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्षशून्योब्रह्मास्वाद सहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमात भिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।

अर्थात् चित्त में सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्कारवान सहृदयजन अखण्ड, स्वप्रकाश और चिन्मय अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त ब्रम्हस्वाद सहोदर, लोकोत्तर चमत्कार प्राणरस का निज रूप से अभिन्नतः आस्वादन करते हैं।

डॉ. नगेन्द्र का मत–

डॉ नगेन्द्र ने संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों के मतों को सार रूप में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है–

''शब्दार्थ के माध्यम से विशुद्ध भाव–भूमिका में आत्मचैतन्य के आस्वाद का नाम रस है।''

अर्थात् रस काव्य का आस्वाद है। यह आस्वाद आनन्दमय है, किन्तु शुद्ध आत्मानन्द नहीं है, क्योंकि इसमें लौकिक विषयों का एकांत तिरोभाव नहीं हो पाता।

उक्त मतों के आलोक में रस के स्वरूप के संबंध में निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं –

1. रति आदि स्थायी भाव सहृदय के हृदय में विद्यमान रहते हैं। ये नायिका आदि आलम्बन के कारण उत्पन्न होते हैं तथा चन्द्रोदय निर्जन स्थान आदि उद्दीपनों से उद्दीप्त होकर अनुभाव और व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता है।
2. रस अखण्ड होता है। रसानुभूति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि की पृथक अनुभूति नहीं होती, अपितु समन्वित अनुभूति होती है।
3. रसानुभव अन्य ज्ञान या अनुभव से रहित है। क्योंकि रस पूर्ण तन्मय भाव की स्थिति है और इस रस स्थिति में स्वभाव से अन्य ज्ञान की संभावना नहीं है।
4. रस स्वप्रकाशानन्द और चिन्मय अर्थात् आत्मचैतन्य से प्रकाशित आनन्दमयी चेतना है। इसमें ऐन्द्रिक अनुभूति का प्रायः अभाव और चैतन्य का सद्भाव रहता है।
5. रस अनिर्वचनीय और अलौकिक है। रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है। वह न प्रत्यक्ष अनुभव है न परोक्ष।
6. रस ब्रह्मानन्द सहोदर है अर्थात् विषयानन्द से भिन्न है। वह

इन्द्रियों का विषय न होकर चैतन्य आत्म का विषय है, फिर भी वह ब्रह्मानन्द नहीं है।

7. रस का आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है। यह आस्वाद ऐन्द्रिक उत्तेजना आदि से भिन्न सात्विक या परिष्कृत कोटि का होता है।
8. रस सुखात्मक या दुखात्मक न होकर आनन्दमय है।
9. भाव सुखात्मक और दुखात्मक होते हैं। किन्तु जब वे रस रूप में परिणत हो जाते हैं, तब आनन्द स्वरूप हो जाते हैं।
10. रस आस्वादन का विषय है अर्थात् आस्वाद से अभिन्न है।

रस–निष्पत्ति

किसी काव्य नाटक आदि के पठन से पाठक को रस की अनुभूति कैसे होती है, इसका सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में किया है। रस के सम्पूर्ण विवेचन का आधार भरतमुनि का रस निष्पत्ति संबंधी यह सूत्र है –

''तत्र विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्तिः।''

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में प्रयुक्त संयोग और निष्पत्ति शब्दों से भरत का क्या तात्पर्य है? रस का उद्‌गम स्थान कहां हैं? सहृदय उसका उपयोग कैसे करता है? आश्रय, अभिनेता, प्रेक्षक आदि का रसोत्कर्ष की प्रक्रिया में क्या स्थान है? इत्यादि महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर स्वयं न देकर इस विषय में उन्होंने कुछ वाक्य दिये हैं, जिसका अर्थ है– ''जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों, औषधियों से षाडवादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी (नाट्य) रस रूप को प्राप्त होते हैं। भरत के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि संयोग का अर्थ संसर्ग और निष्पत्ति का अर्थ नवरूप प्राप्ति है। निष्कर्षतः

भरतमुनि के मतानुसार –

1. रस आस्वाद नहीं, आस्वाद्य है।
2. स्थायी भाव रस नहीं, रस का आधार है।
3. रस अपने में कोई अनुभूति नहीं, अपितु वह अनुभूति का विषय है।
4. स्थायी भाव सहृदय सामाजिक का नहीं, काव्य (नाटक) के नायक का हो सकता है।
5. सहृदय रस का आस्वाद हर्ष आदि रूप में करता है।
6. भरतमुनि रस की व्याख्या विषयगत रूप में करते हैं, विषयीगत रूप में नहीं।

भरत के रस सूत्र में विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी भाव पर किसी को कोई आपति नहीं है। परन्तु संयोग और निष्पत्ति शब्दों की व्याख्या ही इन आचार्यों के सिद्धांतों के निरूपण का कारण है।

इस रस सूत्र के प्रमुख व्याख्याता आचार्य चार हैं –

1. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद

भरत के रस सूत्र के प्रथम व्याख्याता आचार्य भट्टलोल्लट हैं। इनका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। अभिनव भारती एवं काव्य प्रकाश में उनके उद्धरण हैं। उन्हीं के आधार पर इनके मत का निरूपण किया जाता है। उनके मतानुसार, विभाव अर्थात् ललना आदि आलम्बन और उद्यान आदि उद्दीपन कारणों द्वारा जो 'रति' आदि भाव उत्पन्न होता है। अनुभाव अर्थात् कटाक्ष, भुज फड़काना आदि कार्यों से प्रतीति के योग्य किया जाता है। व्यभिचारी भाव अर्थात् निर्वेद आदि सहकारियों द्वारा पुष्ट (उपचित) किया जाता है और साक्षात् रूप से अनुकार्य राम आदि में रहता है, किन्तु नर्तक में भी रामादि रूपता का अनुभव होने के कारण वह स्थायी उसमें भी प्रतीत होता है, वही रस है।

संयोग– भट्टलोल्लट के अनुसार स्थायी भाव के साथ विभावादि का संयोग विविध है–

विभाव और स्थायीभाव में उत्पाद्य और उत्पादक संबंध।

अनुभाव और स्थायी भाव में बोध्य–बोधक संबंध।

व्यभिचारी भाव और स्थायीभाव – पोष्य–पोषक संबंध।

निष्पत्ति– भट्टलोल्लट ने रस निष्पत्ति के व्यापार को तीन भागों में विभाजित किया है –

पहला, उत्पत्ति – क्योंकि विभाव भाव को उत्पन्न करते हैं।

दूसरा, प्रतीति – क्योंकि अनुभावों के द्वारा सामाजिक को भाव की प्रतीति होती है।

तीसरा पुष्टि – क्योंकि संचारी भाव स्थायी भाव के पोषक हैं।

इन तीनों के प्रभाव से रस की निष्पत्ति होती है। अतः रस का अर्थ हुआ उपचिति।

आरोपवाद– 'लोल्लट के अनुसार रस मूलतः अनुकार्य में निबद्ध रहता है। अभिनय कुशलता के कारण सामाजिक नट पर मूल पक्ष (राम–सीता) का आरोप कर लेता है। नट–नटी पर मूल पक्षों के इस आरोप के कारण ही लोल्लट का मत आरोपवाद कहलाता है।

रस की स्थिति– लोल्लट के अनुसार रस की स्थिति मूलपात्र में होती है। नट में रस आरोपित है। अतः वस्तुगत से रस की स्थिति काव्य निबद्ध नाम अर्थात् अनुकार्य में है।

भट्टलोल्लट पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने रस निष्पत्ति विषयक विवाद का आंरभ किया। उन्होंने ऐतिहासिक व्यक्तियों में रस की स्थिति मानकर रस को विषयगत माना और काव्य की महत्ता का प्रतिपादन किया। नट–नटी में रसानुभूति की स्थिति को स्वीकार किया।

भट्टलोल्लट के मत की आलोचना यह कहते हुए की जाती है कि लोल्लट ऐतिहासिक व्यक्तियों और कवि निबद्ध व्यक्तियों में

अन्तर स्पष्ट नहीं कर पाए। यह भी स्पष्ट नहीं है कि जिस प्रकार दर्शक नाटक देखने के समय रसानुभव करता है और नट अभिनय के समय; उसी प्रकार कवि स्वयं भी नाटक या काव्य की सर्जना के समय रसानुभव करता है। यहाँ सामाजिक के रसास्वादन को गौण स्थान दिया गया है।

2. शंकुक का मत (अनुमितिवाद)

भरत सूत्र के दूसरे व्याख्याता आचार्य शंकुक हैं। इनकी व्याख्या का आधार न्याय शास्त्र का अनुमान प्रमाण है। इन्होंने भट्टलोल्लट के मत को भ्रामक कहा है। उनका मत इस प्रकार है कि रस की उत्पत्ति का कारण नट से मूल पात्र और उसके भावों का आरोप नहीं, अपितु अनुमान है। ज्ञात से अज्ञात का ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है। धुएँ के प्रत्यक्ष से अग्नि की सम्भावना अनुमान प्रमाण है। उसी प्रकार रंगमंच पर उपस्थित नट में रामादि अनुमान प्रमाण है।

शंकुक के इस अलौकिक अनुमान का आधार है– ''चित्र तुरंग न्याय'', जो प्रचलित लोक प्रसिद्ध चार प्रकार से भिन्न है। प्रचलित ज्ञान की चार पद्धतियाँ हैं –

1. सम्यक् ज्ञान– राम को राम समझना।
2. मिथ्या ज्ञान– राम को राम न समझकर, कुछ अन्य समझना।
3. संशय ज्ञान– राम है अथवा नहीं, ऐसा संदेहपूर्ण ज्ञान।
4. सादृश्य ज्ञान– राम को देखकर यह कहना कि राम जैसा है।

वस्तुतः चित्र तुरंग ज्ञान इन चारों प्रकार के ज्ञान से भिन्न है। जैसे, चित्र लिखित अश्व को देखकर उसके वास्तविक अश्व के गुणों का अनुमान करके आनन्द उठाया जाता है, उसी प्रकार नट–नटी, राम–सीता ही मान लिए जाते हैं और रस का आस्वादन करते हैं।

संयोग– शंकुक के अनुसार संयोग का अर्थ अनुमाप्य–अनुमापक सम्बन्ध है।

निष्पत्ति– निष्पत्ति का अर्थ अनुमान या अनुमिति है।

रस की स्थिति – लोल्लट की भाँति शंकुक ने भी रस की स्थिति अनुकार्यगत मानी है।

शंकुक के मत का महत्व यह है कि उन्होंने माना कि नट–नटी के अभिनय कौशल का आनंद भी रसानुभव में महत्वपूर्ण योगदान देता है। उन्होंने रस सिद्धांत को पूर्णतः वस्तुपरक स्थिति से हटाकर व्यक्तिपरक स्थिति की ओर एक कदम आगे बढ़ाया। इस मत की आलोचना यह कहते हुए की जाती है कि अनुमान बुद्धि का विषय है और रस भावना से जुड़ा है। अनुमान से ज्ञान होता है अनुभूति नहीं।

3. भट्टनायक का भुक्तिवाद

रस सूत्र के तीसरे व्याख्याता आचार्य भट्टनायक हैं। उनका सिद्धांत भुक्तिवाद कहलाता है। भट्टनायक के अनुसार, न रस की उत्पति होती है, न अनुमिति, अपितु भुक्ति होती है। सामाजिक रस रूप में परिणत अपने स्थायी भाव का उपभोग करता है। सामाजिक के सहृदय में रस की भुक्ति के लिए काव्य की क्रियाएं ही रस के उद्बोधक कारण हैं। काव्य शब्दात्मक है। अतः भट्टनायक शब्द रूप काव्य के तीन व्यापार मानते हैं –

1. अभिधा व्यापार – इसके द्वारा सहृदय काव्य के शब्दार्थ को ग्रहण करता है।

2. भावकत्व व्यापार – भावकत्व का अर्थ है– साधारणीकरण। भावकत्व व्यापार में काव्य में वर्णित विभावादि किसी व्यक्ति विशेष के विभाव न रहकर सर्वसाधारण के विभाव बन जाते हैं। इसी प्रक्रिया को साधारणीकरण कहते हैं। साधारणीकरण होते ही रजो गुण और तमो गुण का नाश होकर सत्वगुण का उद्रेक होता है।

3. भोजकत्व व्यापार – भोजकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकरण स्थायी भाव का रस रूप में भोग होता है। यह भोग लौकिक अनुभव से भिन्न होता है। यह आनन्द, ब्रह्मनन्दसहोदर कहलाता है।

संयोग – संयोग का अर्थ है भोज्य–भोजक संबंध।

निष्पत्ति– निष्पत्ति का अर्थ है भोग या भुक्ति।

रस की स्थिति– भट्टनायक के अनुसार रस की स्थिति सहृदय सामाजिक के चित्त में होती है। भट्टनायक का सबसे बड़ा योगदान उनका साधारणीकरण का सिद्धांत है। उन्होंने रस को विषयीगत माना है।

भट्टनायक के रस सिद्धांत की आलोचना यह कहकर की जाती है कि उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व नामक जिन काव्य–व्यापारों की कल्पना की है, वह शास्त्र सम्मत नहीं है।

4. अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

इस सूत्र के चौथे व्याख्याता हैं– आचार्य अभिनवगुप्त। ये शैव मतावलम्बी आचार्य हैं। इन्होंने शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से रस सिद्धांत का निरूपण किया है। उनके अनुसार रस की न तो उत्पत्ति होती है, न अनुमिति होती है और न ही भुक्ति होती है, अपितु रस की अभिव्यक्ति होती है। अभिनवगुप्त के मत का सारांश यह है– सहृदय के हृदय में रति आदि भाव संस्कार रूप में विद्यमान रहते हैं। वे सहृदय जन–लोक में ललना आदि (कारणों) के द्वारा रति आदि का अनुमान करने में निपुण होते हैं। काव्य नाट्य में कारण आदि को त्यागकर वे ललनादि अलौकिक विभाव आदि का रूप धारण कर लेते हैं तथा काव्य की शक्ति से सामान्य विभाव आदि के रूप में प्रतीत होने लगते हैं। सहृदयों में स्थित रति आदि भाव इन्हीं के द्वारा व्यंजना से अभिव्यक्त होकर आस्वादित किया जाता है। इस प्रकार का विलक्षण आस्वाद ही रस कहलाता है। यह स्थायी भाव से विलक्षण है। अभिनवगुप्त भट्टनायक के साधारणीकरण तथा रसोद्रेक के समय सतो गुण की प्रधानता को स्वीकार करते हैं तथा भावकत्व और भोजकत्व के स्थान पर व्यंजना को आरूढ़ करना चाहते हैं।

संयोग– संयोग का अर्थ है व्यंग्य–व्यंजक सम्बन्ध।

निष्पत्ति– निष्पत्ति का अर्थ है अभिव्यक्ति।

रस का स्थान – अभिनवगुप्त के मतानुसार सहृदय के अन्तःकरण इत्यादि स्थायी भाव विभावादि द्वारा व्यंजक भाव से अभिव्यक्त हो जाते हैं। जिस प्रकार मिट्टी में गंध पहले से ही विद्यमान रहती है और जल के छींटे पड़ने पर वह गंध व्यक्त हो जाती है, उसी प्रकार विभावादि के संयोग से रसरूपी नया तत्व व्यक्त होता है। रस स्थायी भाव में नहीं है और न विभावादि से अलग उसकी सत्ता मानी जा सकती है, अपितु दोनों के संयोग में निहित है। रस की निष्पत्ति सामाजिक में होती है।

अभिनवगुप्त के सिद्धांत का महत्व यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम रस के एकान्त सहृदयनिष्ठ रूप की प्रतिष्ठा की। अभिनवगुप्त ने रस–विवेचन की प्रमुख सिद्धि समष्टिगत रस की कल्पना की है। उन्होंने सामूहिक रस–चेतना में ही रस–चक्र की पूर्णता स्वीकार की है। रस के अलौकिक स्वरूप पर विशेष बल दिया। अभिनवगुप्त के सिद्धांत की आलोचना यह कहकर की जाती है कि रस का स्वरूप एकांत आत्मपरक भाव लेने पर काव्य की सत्ता गौण हो जाती है।

परवर्ती आचार्यों ने प्रायः अभिनवगुप्त के मत को स्वीकार किया है। इनमें धनंजय, विश्वनाथ और राज जगन्नाथ का नाम प्रमुख है। इन्होंने व्यंजना व्यापार की महत्ता प्रतिपादित की है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भरत–सूत्र के व्याख्याताओं में अभिनवगुप्त की व्याख्या सर्वाधिक प्रमाणिक है। वे रस–निष्पत्ति का आशय 'रसाभिव्यक्ति' लेते हैं। परवर्ती आचार्यों को भी यही मान्य है। यही उचित प्रतीत होता है।

संदर्भ :–

- ''काव्यशास्त्र और साहित्यालोचन'', महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक–124001

■■

(6)
रस के अंग और प्रकार

वंदना रानी खाखा

रस–

किसी काव्य को पढ़ने, सुनने अथवा अभिनय को देखने पर पाठक, श्रोता या दर्शक को जो आनंद प्राप्त होता है, उसे रस कहते हैं। रस को 'काव्य की आत्मा' भी कहा जाता है। इस सिद्धांत के मूल प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि जी हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ नाट्शास्त्र में रस के विभिन्न अवयवों का विवेचन किया तथा 'रस सूत्र' दिया। भरत मुनि का रस सूत्र इस प्रकार है–

''विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्तिः''

अर्थात् ''विभाव, अनुभाव, व्याभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।''

रस के अंग–

रस के चार अंग होते हैं, जिनके सहयोग से ही रस की अनुभूति होती है। ये चारों अंग या अवयव निम्नलिखित हैं–

क. स्थायी भाव,

ख. विभाव,

ग. अनुभाव,

घ. संचारी भाव।

क. स्थायी भाव–

---

* जन्म : 23 अप्रैल 1980, पति : श्री प्रबोध कुमार खाखा, शिक्षा : एम. ए., नेट, सेट, सम्प्रति : सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), वीरांगना रानी दुर्गावती शासकीय महाविद्यालय मरवाही, जिला– गौरेला पेण्ड्रा मरवाही, छ.ग., मो. : 9424154400, मेल आई डी : vranixaxa@gmail.com

जो भाव मनुष्य के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं, किन्तु अनुकूल अवसर या कारण पाकर उद्दीप्त हो जाते हैं, स्थायी भाव कहलाते हैं। प्रत्येक स्थायी भाव से संबंधित एक रस होता है, जिसका विवरण इस प्रकार है–

रस का नाम		**स्थायी भाव**
1. श्रृंगार रस	–	रति
2. वीर	–	उत्साह
3. रौद्र	–	क्रोध
4. वीभत्स	–	जुगुप्सा
5. अद्भूत	–	विस्मय
6. शान्त	–	निर्वेद
7. हास्य	–	हास
8. भयानक	–	भय
9. करूण	–	शोक

इनके अतिरिक्त दो रसों की चर्चा और होती है –

10. वात्सल्य	–	स्नेह (स्नेह विषयक रति)
11. भक्ति	–	भगवद् विषयक रति

स्थायी भावों की संख्या नौ ही मानी गई है। अतः मूलतः 'नवरस' ही माने गए हैं। रति के तीन भेद माने जा सकते हैं – दाम्पत्य रति, वात्सल्य रति, भक्ति संबंधित रति।

ख. विभाव –

विभाव का अर्थ होता है 'कारण'। स्थायी भावों को जागृत और उद्दीप्त करने वाले कारणों को 'विभाव' कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते है –

अ. आलम्बन विभाव,

ब. उद्दीपन विभाव।

अ. आलम्बन विभाव –

जिसके कारण आश्रय के हृदय में स्थायी भाव जाग्रत होता है, उसे आलम्बन विभाव कहते हैं।

जैसे –

● दुष्यंत के हृदय में शकुंतला को देखकर 'रति' नामक स्थायी भाव जागृत हुआ। यहाँ दुष्यंत आश्रय है और शकुंतला आलंबन है।

आलंबन विभाव भी दो प्रकार के होते हैं – आश्रय और विषय। जिस व्यक्ति के मन में स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं, उसे आश्रय कहते हैं। जिस व्यक्ति या वस्तु के कारण आश्रय के चित्त में स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं, उसे विषय कहते हैं। इस उदाहरण में दुष्यंत को 'आश्रय' एवं शकुंतला को 'विषय' कहेंगे।

ब. उद्दीपन विभाव –

जो कारण स्थायी भावों को उत्तेजित या उद्दीप्त करते हैं, विभाव कहलाते हैं। ये आलंबन विभाव के सहायक एवं अनुवर्ती होते हैं। उद्दीपन के अन्तर्गत आलम्बन की चेष्टाएँ एवं बाह्य वातावरण दो तत्व आते हैं, जो स्थायी भाव को और अधिक उद्दीप्त, प्रबुद्ध और उत्तेजित कर देते हैं।

जैसे – शकुंतला का सौंदर्य, यह दुष्यंत के हृदय के स्थायी भाव 'रति' को उद्दीप्त करता है।

ग. अनुभाव –

स्थायी भाव के जागृत होने पर मनुष्य (आश्रय) में कुछ शारीरिक चेष्टाएं उत्पन्न होती हैं, जिन्हें अनुभाव कहा जाता है। यही 'आश्रय' की चेष्टाएँ अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं, जबकि आलम्बन की चेष्टाएं उद्दीपन के अन्तर्गत मानी जाती हैं। अनुभाव की परिभाषा देते हुए कहा गया है, ''अनुभाव भाव बोधक''। अर्थात् भाव का बोध कराने वाले कारण अनुभाव कहलाते हैं। आश्रय की वे बाह्य चेष्टाएँ जिनसे यह पता चलता है कि उसे हृदय में कौन–सा भाव जाग्रत हुआ है, 'अनुभाव' कहलाता है।

अनुभाव चार प्रकार के होते हैं :–

i. कायिक या आंगिक,

ii. वाचिक,

iii. आहार्य,

iv. सात्विक।

i. कायिक या आंगिक – ये शरीर की चेष्टाओं से प्रकट होते हैं।

ii. वाचिक – ये वाणी से प्रकट होते हैं।

iii. आहार्य – ये वेशभूषा, अलंकार से प्रकट होते हैं।

iv. सात्विक – सत्व के योग से उत्पन्न वे चेष्टाएँ, जिन पर हमारा वश नहीं होता, सात्विक अनुभाव कहलाते हैं।

इनकी संख्या आठ होती है –

I. स्वेद	ii. कम्प	iii. रोमांच
iv. स्तम्भ	v. स्वेद	vi. अश्रु
v. वैवर्ण्य	iv. प्रलय	

जैसे– शेर को देखकर व्यक्ति का काँपना, रोंगटे खड़े होना और भागना; यह क्रिया अनुभाव कहलाती है। ये सभी अनुभाव के ही लक्षण हैं।

घ. संचारी भाव–

आश्रय के मन में उत्पन्न होने वाले अस्थिर मनोविकारों को संचारी भाव कहते हैं। ये मनोविकार पानी के बुलबुलों की भाँति बनते और बिगड़ते रहते हैं, जबकि स्थायी भाव अंत तक बने रहते हैं। यह भाव स्थायी भाव के साथ उत्पन्न होकर कुछ समय बाद समाप्त हो जाते हैं। स्थायी भाव को पुष्ट करने वाले संचारी भाव कहलाते हैं। ये सभी रसों में संचरण करते हैं। इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है। संचारी भाव का अर्थ है, साथ–साथ चलना अर्थात् संचरणशील होना। संचारी भाव स्थायी भाव के साथ संचरित होते हैं। इनकी संख्या 33 मानी गई है–

1. निर्वेद, 2. ग्लानि, 3. शंका, 4. असूया, 5. मद, 6. श्रम, 7. आलस्य, 8. दैन्य, 9. चिन्ता, 10. मोह, 11. स्मृति, 12. घृति, 13. ब्रीड़ा (लज्जा), 14. चपलता, 15. हर्ष, 16. आवेग, 17. जड़ता, 18. गर्व, 19. विवाद, 20. औत्सुक्य, 21. निद्रा, 22. अपस्मार, 23. स्वप्न, 24. बिबोध, 25. अवगर्ष, 26. अवहित्या, 27. उग्रता, 28. मति, 29. व्याधि, 30. उन्माद, 31. मरण, 32 त्रास एवं 33. वितर्क।

रस के प्रकार

1. श्रृंगार रस –

श्रृंगार रस को ही रसराज या रसपति कहा गया है। रति नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग होता है, तब श्रृंगार रस उत्पन्न होता है। इसके दो भेद हैं– (i) संयोग श्रृंगार, (ii) वियोग या विप्रलंभ श्रृंगार।

संयोग श्रृंगार – नायक और नायिका के पारस्परिक प्रेम/रति को संयोग श्रृंगार कहा जाता है, इसमें संयोग का अर्थ है सुख की प्राप्ति करना।

उदाहरण–

दूलह श्रीरघुनाथ बने दुलही सिय सुंदर मंदिर माही।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि बेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाही।।
राम को रूप निहारित जानकि, कंकन के नग की परछाही।
यातै सबै भूलि गई कर टेकि रही, पल टारत नाहीं।।
स्थायी भाव – रति, आलंबन – राम, आश्रय – सीता।
उद्दीपन – नग में पड़ने वाला राम का प्रतिबिंब।
अुनभाव – उस प्रतिबिंब को देखना, हाथ टेकना।
संचारी भाव – हर्ष और जड़ता।

वियोग श्रृंगार – नायक और नायिका के मिलन का अभाव या विछोह को वियोग श्रृंगार कहा जाता है।

उदाहरण–

निसिदिन बरसत नयन हमारे,

सदा रहति पावस ऋतु हम पै,
जब ते स्वाय सिधारे।

2. हास्य रस –

काव्यादि में जहाँ किसी वस्तु या व्यक्ति की वेशभूषा, वाणी, चेष्टा आदि के विकृतिपूर्व वर्णन से जब हृदय में विनोद का भाव जागृत होता है, तब उसे 'हास' कहा जाता है। यही हास विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से पुष्ट होकर 'हास्य रस' में परिणत हो जाता है। इसका स्थायी भाव हास होता है। इसके दो प्रकार होते हैं – आत्मस्थ और परस्थ हास्य। जब व्यक्ति स्वयं हँसे तो आत्मस्थ हास्य और दूसरे को हँसाए तो परस्थ हास्य होगा।

उदाहरण –

हँसि–हँसि भजैं देखि दूलह दिगम्बर को,
पाहुनो जे भावैं हिमालय के उछाह में।
कहै पद्माकर सु काहू सों कहे को कहा,
जोई जहाँ देखे सो हँसोई तहाँ राह में।
मगन भएई हँसे नगन महेस ठाड़े,
और हँसे बेड हंसि–हंसि के उमाह में।
स्थायी भाव – हास, आलम्बन– शिव जी।
उद्दीपन – नग्नता व रूप–वैचित्र्य।
संचारी भाव – हर्ष, चपलता, उत्सुकता।

3. करुण रस –

काव्यादि में जहाँ प्रिय व्यक्ति, वस्तु, धन, ऐश्वर्य की हानि होने; अपमान, पराजय, विपत्ति, दुर्घटना या अपना अनिष्ट होने से श्रोता/पाठक/दर्शक के मन में तीव्र मार्मिक संवेदना उत्पन्न होती है, वहाँ करुण रस की उत्पत्ति होती है। हृदय में उत्पन्न क्षोभ ही करुणा का सूचक है। अतः जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से हृदय में स्थित 'शोक' नामक स्थायी भाव प्रबुद्ध होकर रस–दशा को प्राप्त होता है, तब वह 'करूण रस' का सूचक होता

है।

उदाहरण –

अति भीषण हाहाकार हुआ, सूना–सा सब संसार हुआ।
अर्द्धांग रानियाँ शोकवृत्त, मूर्छिता हुईं या अर्द्ध मृता।
हाथों से नेत्र बंद करके, सहसा यह दृश्य देख, डर के।
'हा स्वामी !' कह ऊँचे स्वर से, दहक सुमंत मानो दव से।
अनुचर अनाथ–से रोते थे, जो न अधीर सब होते थे।

स्थायी भाव – शोक, आलंबन – राजा दशरथ।

उद्दीपन – रानियों व अन्य जनों द्वारा राजा दशरथ का शव देखना।

अनुभाव – हाहाकार मचना, मूर्छित होना, सेवकों का रूदन आदि।

संचारी भाव – दैन्य, आवेग, जड़ता।

4. वीर रस –

काव्य में जहाँ शत्रु के पराक्रम, आक्रमण अथवा किसी की दीनता–दुर्दशा अथवा धार्मिक भावनाओं पर चोट आदि देखकर या सुनकर चित्त में जो प्रतिक्रियात्मक 'उत्साह' उत्पन्न होता है, वह विभाव, अनुभाव, संचारी भाव से परिपुष्ट होकर आस्वाद्य हो जाता है, तो वहाँ 'वीर रस' होता है। वीर रस के चार भेद हैं– युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, धर्मवीर। इन सबके मूल में स्थायी भाव 'उत्साह' ही रहता है, किंतु इस उत्साह की अभिव्यक्ति भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में भिन्न रूप में होती है।

उदाहरण –

मैं कहता हूँ सखे। सुकुमार मत जानो मुझे।
यमराज से भी युद्ध में प्रस्तुत सदा जानो मुझे।
हे सारथे! है द्रोण क्या, आवें स्वयं देवेन्द्र भी।
वे भी न जीतेंगे समर में आज क्या मुझसे कभी।

स्थायी भाव – उत्साह, आलंबन – कौरव पक्ष के द्रोणाचार्य।

आश्रय – अभिमन्यु, अनुभाव – अभिमन्यु के वचन।

संचारी भाव – गर्व, हर्ष, उत्सुकता।

5. भयानक रस –

इसका स्थायी भाव 'भय' होता है। जब किसी भयानक अनिष्टकारी व्यक्ति या वस्तु को देखने या उससे संबंधित वर्णन करने या किसी अनिष्टकारी घटना का स्मरण करने से मन में जो व्याकुलता उत्पन्न होती है, उसे भय कहते हैं। उस भय के उत्पन्न होने से जिस रस की उत्पत्ति होती है, उसे भयानक रस कहते हैं।

भयानक रस के भेद –

भानुदत्त ने 'रसतरंगिणी' में भयानक रस के दो भेद किये हैं –

(i) स्वनिष्ठ भयानक रस,

(ii) परनिष्ठ भयानक रस।

(i) स्वनिष्ठ भयानक रस – यह वहाँ होता है, जहाँ भय का आलंबन स्वयं आश्रय में रहता है।

(ii) परनिष्ठ भयानक रस – यह वहाँ होता है, जहाँ भय का आलंबन आश्रय में वर्तमान में न होकर उससे बाहर पृथक होता है।

उदाहरण–

समस्त सर्पों संग श्याम ज्यों कढ़े,
कलिंद की नन्दिनी के सुअंक से।
खड़े किनारे जितने मनुष्य थे,
सभी महा शंकित भीत हो उठे।
हुए कई मूर्च्छित घोर त्रास से,
कई भगे, मेदिनी में गिरे कई।
हुई यशोदा अति ही प्रकंपिता,
ब्रजेश भी व्यस्त समस्त हो गए।

स्थायी भाव – भय, आश्रय – समस्त ब्रजवासी।

आलंबन – सर्प और उनसे घिरे कृष्ण।

अनुभाव – ब्रजवासियों का भागना, गिरना, मूर्च्छित होना।

संचारी भाव – शंका, आवेग, मोह, त्रास।

6. रौद्र रस –

इसका स्थायी भाव 'क्रोध' है। विभाव, अनुभाव और और संचारी भावों के संयोग से 'क्रोध' नामक स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होकर रौद्र रस के रूप में परिणत होता है। काव्य में जहाँ शत्रु द्वारा किए अनिष्ट कार्य, अपमान, अपकार अथवा गुरुजनों की निंदा व विरोध के कारण मन में जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसे 'रौद्र रस' कहते हैं।

उदाहरण –

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे।
सब शोक अपना भूलकर, करतल युगल मलने लगे।
संसार देखे सब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े।
करते हुए यह घोषणा वे हो गए, उठ कर खड़े।
उस काल मारे क्रोध के तन काँपने उनका लगा।
मानो हवा के जोर से सोता हुआ अजगर जगा।

स्थायी भाव – क्रोध, आश्रय – अर्जुन।

आलंबन – अभिमन्यु के वध के पश्चात् कौरवों द्वारा उल्लास प्रदर्शन।

उद्‌दीपन – अभिमन्यु का मृत शरीर व श्रीकृष्ण के वचन।

अनुभाव – हाथ मलना, मुख लाल होना, तन में कंपन।

संचारी भाव – उग्रता, गर्व, उत्साह, अमर्ष आदि।

7. वीभत्स रस –

इसका स्थायी भाव 'जुगुप्सा' है। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से 'जुगुप्सा' नामक स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होकर वीभत्स रस में परिणत हो जाता है। अत्यंत असंत, अरूचिकर, घृणा उत्पन्न करने वाली वस्तुओं और सड़ी–गली वस्तुओं की दुर्गंध से मन में जो घृणा या जुगुप्सा उत्पन्न होती है, उसे ही वीभत्स रस कहते हैं।

उदाहरण –

यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी धधक रही थी ज्वाला।
दारुण दृश्य, रुधिर की छीटें, अस्थि खंड की माला।
वेदी की निर्मम प्रसन्नता, पशु की कातर वाणी।
मिल कर वातावरण बना था, कोई कुत्सित प्राणी।
स्थायी भाव – जुगुप्सा।
आलंबन – बलि वेदी व यज्ञस्थल।
उद्दीपन – रुधिर के कण तथा हड्डियों के बिखरे पड़े टुकड़े।
अनुभाव – नाक–भौंह सिकोड़ना, थूँकना, आँख बंद करना।
संचारी भाव – आवेग, मोह, मूर्च्छा, कंप आदि।

8. अद्भुत रस –

इसका स्थायी भाव 'विस्मय' है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से हृदय में स्थित 'विस्मय' नामक स्थायी भाव प्रदीप्त होकर अद्भुत रस के रूप में परिणत हो जाता है। किसी असाधारण या विचित्र वस्तु को देखकर या उसके विषय में सुनकर हृदय में उसके प्रति जो आश्चर्य व कौतूहल का भाव संचारित होता है, उसे अद्भुत रस कहते हैं।

उदाहरण –

दिखरावा जिन मातहि, अद्भुत रूप अखंड।
रोम–रोम प्रति लागे, कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड।
अगनित रवि ससि सिव चतुरानन।
बहु गिरि सिंधु महि कानन।
तनु पुलकित मुख बचन न आवा।
नयन मूँदि चरनन सिर नावा।।
स्थायी भाव – विस्मय, आलंबन – बालक राम।

उद्दीपन – पालने में सोए हुए दिखना, कभी पूजा–गृह में नैवेद्य खाते हुए और कभी उनके मुख में ब्रम्हाण्ड का दिखना।

अनुभाव – भयभीत होना, पुलकित होना, आँख बंद करना, राम के चरणों में सिर झुकाना।

संचारी भाव – भय, कम्प, जड़ता, त्रास आदि।

9. शांत रस –

इसका स्थायी भाव 'निर्वेद' है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से हृदय स्थित 'निर्वेद' नामक स्थायी भाव उद्दीप्त होकर शांत रस के रूप में परिणत हो जाता है। संसार की नश्वरता, दुःखमयता तथा असत्यता के यथार्थ बोध से मन जब लौकिक जगत् से ऊपर उठकर विरक्त, निस्पृह और शांत हो जाता है, तो इस स्थिति को 'निर्वेद' कहते हैं। निर्वेद का अर्थ है – वेदनारहित होना। हृदय में निर्वेद की स्थिति में शाँत रस की उत्पत्ति होती है।

उदाहरण –

राजकुमार सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) जब युवावस्था में आत्म चिंतन करते हुए महलों को छोड़कर वन में तपस्या के लिए 'महाभिनिष्क्रमण' (प्रस्थान) करते हैं, तब उन्हें इसी निर्वेद भाव का अनुभव होता है –

प्रच्छन्न रोग है, प्रकट भोग,
संयोग मात्र भावी वियोग,
लोभ–मोह में लीन लोग,
भूले हैं अपना अपरिणाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम।

स्थायी भाव – निर्वेद, आश्रय – सिद्धार्थ।

आलंबन – सांसारिक विषय–वासनाएँ।

उद्दीपन – सांसारिक मोह व लोभ में डूबे रहना और क्षणभंगुरता का बारम्बार ध्यान आना।

अनुभाव – घर छोड़ना और सिद्धार्थ द्वारा संसार को 'राम–राम' कहकर विदा करना।

संचारी भाव – धैर्य, स्मृति, ग्लानि और वितर्क आदि।

इन सभी रसों से पुष्ट होकर सिद्धार्थ के मन में स्थित 'निर्वेद'

स्थायी भाव शांत रस के रूप में प्रस्फुटित हो रहा है।

दो नए रस–

शास्त्रीय दृष्टि से रसों की संख्या नौ ही है, कालांतर में आचार्य विश्वनाथ ने 'वात्सल्य' को दसवाँ तथा रूप गोस्वामी ने 'मधुर' नामक ग्यारहवें रस की स्थापना की, जिसे बाद में 'भक्ति रस' की मान्यता मिली।

10. वात्सल्य रस –

इसका स्थायी भाव 'संतान विषयक रति' है। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से सहृदय के चित्त में स्थित संतान विषयक रति नामक स्थायी भाव उद्दीप्त होकर 'वात्सल्य रस' के रूप में अभिव्यंजित होता है। संतान, शिष्य एवं बच्चों के प्रति माता–पिता या गुरुजनों का जो स्नेहभाव होता है, उसे वात्सल्य' कहते हैं। बच्चों के रूप सौंदर्य एवं उनकी बालसुलभ चेष्टाओं को देखकर या सुनकर माता–पिता या बड़ों के मन में जो अगाध स्नेह उत्पन्न होता है, उसे ही 'वात्सल्य रस' कहते हैं। वात्सल्य रस के दो भेद होते हैं –

(i) संयोग वात्सल्य, (ii) वियोग वात्सल्य।

उदाहरण–

श्रीराम के बाल रूप को निहार कर कवि तुलसी में यह वात्सल्य भाव ही प्रबुद्ध होकर रस दशा को प्राप्त हो रहा है –

वरदंत की पंगति कुंद कली अघराघर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै धन बीच जगै छवि भौतिन माला अमोलन की
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावर प्रान करें तुलसी, बलि जाऊँ लला इन बोलन की।
स्थायी भाव – संतान विषयक रति।
आश्रय – कवि तुलसी।
आलंबन – बालक राम।

उद्दीपन – घुँघराली लटें, कोमल पत्ते के समान अधर, तोतली बोली।

अनुभाव – बालक राम के सौंदर्य को टकटकी लगाकर देखना, बालक राम को गोद में लेने का प्रयास करना।

संचारी भाव – हर्ष, चपलता, औत्सुक्त आदि।

11. भक्ति रस –

इसका स्थायी भाव 'भगवद् विषयक रति' है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से सहृदय के चित्त में स्थित ईश्वर विषयक रति प्रबुद्ध होकर भक्ति रस को व्यंजित करती है। प्रभु की लीलाओं, उनकी दयालुता, भक्त–वत्सलता आदि का श्रवण, गायन, मनन आदि से मन में 'भगवद् विषयक रति' उत्पन्न होती है, जो भक्ति रस में परिणत हो जाती है। भक्ति रस के पाँच भेद माने गए हैं – शांत, प्रीति, प्रेम, वात्सल्य और माधुर्य।

उदाहरण –

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरों ने कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।
साधुन संग बैठि–बैठि लोकलाज खोई।
अब तो बात फैल गई जाने सब कोई।
अँसुअन जल सींचि प्रेम – बेलि बोई।
मीरा को लगन लगी, होनी हो सो होई।

स्थायी भाव – भगवद् विषयक रति।

आलंबन – भगवान श्रीकृष्ण मीरा की भक्ति के आलंबन है।

उद्दीपन – साधु–संगति में लोक–लाज नष्ट होना, बात का फैलना।

अनुभाव – आँसुओं का प्रवाह।

संचारी भाव – हर्ष, शंका, निडरता आदि।

■■

(7)
साधारणीकरण

कमल यशवंत सिन्हा

साधारणीकरण सिद्धांत का सर्वप्रथम उल्लेख हमें भट्टनायक के ग्रंथ 'हृदयदर्पण' में मिलता है। हालांकि यह ग्रंथ वर्तमान में अप्राप्य हैं, किंतु आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने ग्रंथ में साधारणीकरण सिद्धांत की व्याख्या करते समय अपने पूर्ववर्ती भट्टनायक के मत का उल्लेख संदर्भ के साथ किया है। साधारणीकरण सिद्धांत के बीज आचार्य भरतमुनि के ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में मिल जाते हैं। 'नाट्यशास्त्र' में भरतमुनि ने कहा है, ''सामान्य गुणयोगेने रसा निष्पद्यन्ते'' अर्थात् स्व–पर की भावना से मुक्त होकर पाठक जब सामान्य रूप से भाव को ग्रहण करते हैं, तब रस की निष्पत्ति होती है। एक निश्चित एवं व्यवस्थित सिद्धांत के रूप में साधारणीकरण का उल्लेख सर्वप्रथम भट्टनायक के मत में मिलता है। अतः साधारणीकरण सिद्धांत के प्रतिपादक के रूप में भट्टनायक सर्वमान्य है। भरतमुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित रस सूत्र ''विभावानुभावव्यभिचारीसन्योगाद्रर्सनिष्पत्तिः'' की व्याख्या हेतु भट्टनायक ने साधारणीकरण सिद्धांत प्रस्तुत किया। भट्टनायक के अनुसार रस निष्पत्ति का मूल कारण साधारणीकरण है। दूसरे शब्दों में, साधारणीकरण की प्रक्रिया संपन्न होने के बाद ही रस

---

* जन्म तिथि : 12 / 12 / 1989, पिता : श्री यशवन्त सिन्हा, योग्यता : एम. ए., नेट, जे आर एफ, सम्प्रति : सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), शासकीय महाविद्यालय तमनार, जिला – रायगढ़ छ.ग., मो. : 88218488603,

मेल– kys.kamalsinha@gmail.com

की निष्पत्ति होती हैं। अतः रस निष्पत्ति की प्रक्रिया को समझने की दृष्टि से साधारणीकरण सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण है।

सामाजिक (सहृदय) को किसी रचना को देखने, पढ़ने या सुनने से आनंद की अनुभूति क्यों होती है? क्यों वह कुछ स्थानों पर चरित्र विशेष के दुख से द्रवित हो जाता है? क्यों वह खल पात्रों पर कुपित होता है? सामाजिक (सहृदय) और चरित्र के मध्य यह तादात्म्य किस प्रकार स्थापित होता है कि वह पात्रों के सुख–दुख को स्वयं के हर्ष विषाद की तरह अनुभूत करता है? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है– साधारणीकरण।

साधारणीकरण क्या है?

साधारणीकरण का अर्थ है– असाधारण (विशेष) का साधारण (सामान्य) हो जाना। दूसरे शब्दों में, साधारणीकरण वह सामान्यीकृत अनुभव है, जिसमें वस्तुएं, स्थान तथा काल की उपाधि से मुक्त होकर निर्वैयक्तिक रूप में अनुभूत होने लगती हैं। साधारणीकरण के द्वारा व्यक्ति विशेष असाधारण ना रहकर सामान्य प्राणी मात्र (साधारण) बन जाते हैं। अर्थात् वह किसी देश एवं काल की सीमा में बंधे ना रहकर सार्वजनिक एवं सर्वकालिक बन जाते हैं। साधारणीकरण की स्थिति में सामाजिक (सहृदय) का पात्र के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाता है। डॉ0 गणपति चंद्रगुप्त ने साधारणीकरण को पारिभाषित करते हुए कहा है, ''साधारणीकरण से तात्पर्य काव्य अनुभूतियों का व्यक्ति विशेष तक सीमित ना रहकर सर्वसाधारण तक व्याप्त हो जाना।''

साधारणीकरण की दशा में सहृदय सामाजिक अनुभूति करता है। उदाहरणस्वरूप रामायण पढ़ते समय या रामलीला देखते समय लक्ष्मण को शक्तिबाण लगने पर राम का शोक केवल राम का ना होकर सर्वसाधारण का एवं समस्त मानव समाज का शोक बन जाता है। पात्र विशेष के भावों या अनुभूतियों का ही इस तरह सामान्यीकृत

हो जाना ही साधारणीकरण है। साधारणीकरण की दशा में सामाजिक निज–मोह–संकटता निवारण अर्थात् स्व या पर की भावना से मुक्त हो जाता है और उसका तादात्म्य रचना के पात्र के साथ हो जाता है। यही कारण है कि वह पात्र के भावों की अनुभूति स्वयं के भावों की तरह करता है। साधारणीकरण हो जाने पर सामाजिक एवं चरित्र (पात्र) के मध्य अभेद स्थापित हो जाता है।

साधारणीकरण किसका होता है?

इस प्रश्न पर संस्कृत परंपरा में भट्टनायक से लेकर आधुनिक हिंदी आलोचकों जैसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ. नगेंद्र आदि ने गहरा विमर्श किया है। रस निष्पत्ति हेतु साधारणीकरण के महत्व को सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है, किंतु साधारणीकरण किसका होता है, इस विषय में विद्वानों में मतैक्य का अभाव है। चीरहरण के दृश्य में द्रोपदी की अनुभूति के साथ ही साधारणीकरण क्यों होता है? इस प्रसंग में दुर्योधन या सभा में उपस्थित किसी अन्य सदस्य की अनुभूति के साथ साधारणीकरण क्यों नहीं होता? विभिन्न विद्वानों ने इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया है।

यहाँ सर्वप्रथम भट्टनायक के मत पर चर्चा करेंगे। भट्टनायक ने काव्य में तीन व्यापार स्वीकार किए हैं– अभिधा, भावकत्व एवं भोजकत्व। भट्टनायक का कथन है कि ''दर्शक पहले अभिधा शक्ति से नायक नायिका के संवादों का अर्थ ग्रहण करता है और फिर भावकत्व द्वारा उनका भावन करता है। भावकत्व व्यापार विशिष्ट विभावादी को साधारणीकृत रूप में उपस्थित कर सहृदय की निज मोहसंकटता का निवारण करते हुए रसों को भावित कर देता है तथा भोजकत्व व्यापार के द्वारा उन भावित रसों का भोग होता है।'' इस प्रकार अभिधा व्यापार वाच्यार्थ विषयक है, भावकत्व रसादि विषयक और भोजकत्व सहृदय विषयक। निष्कर्षतः भट्टनायक विभावादी (विभाव, अनुभाव, व्याभिचारी और संचारी भाव) का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं।

भट्टनायक के पश्चात् आचार्य अभिनवगुप्त ने इस विषय पर विचार किया है और उन्होंने वहां भावकत्व व्यापार एवं व्यंजना व्यापार के पृथक्करण को अस्वीकार करते हुए साधारणीकरण की व्याख्या प्रस्तुत की है। अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण के दो स्तर मानते हुए कहा है कि पहले स्तर पर विभावादी का व्यक्ति विशिष्ट से संबंध छूट जाता है और दूसरे स्तर पर सामाजिक का व्यक्तित्व बंधन नष्ट हो जाता है। अर्थात् विभावादी का साधारणीकरण होता है, साथ ही पाठक (सहृदय) सामाजिक अनुभूति का साधारणीकरण होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण व्यापार सामाजिक के वासना रूप में स्थित स्थायी भाव के आधार पर होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने वासना को स्वीकृति प्रदान की और स्थायी भाव का साधारणीकरण माना। अभिनवगुप्त ने विभावादी के साथ–साथ स्थायी भाव का साधारणीकरण स्वीकार किया है।

पंडित विश्वनाथ ने सहृदय का आ़श्रय के साथ तादात्म्य में बताते हुए विभावादी, स्थायी भाव तथा सामाजिक का साधारणीकरण माना है। उन्होंने सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य पर विशेष बल दिया है।

साधारणीकरण के संबंध में पंडितराज जगन्नाथ का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अनुसार साधारणीकरण तात्विक रूप से संभव नहीं है। इनका मत है कि ना साधारणीकरण कोई वस्तु है और ना किसी का किसी के साथ साधारणीकरण होता है। इन्होंने साधारणीकरण व्यापार के स्थान पर दोष–दर्शन की स्थापना की। इनके मतानुसार काव्य नाटक को पढ़ते या देखते समय सामाजिक के हृदय में सहृदयता के कारण एक दोष भावना जाग्रत होती है, जिसके प्रभावस्वरूप सामाजिक की आत्मा कल्पित विभावादी (जैसे दुष्यंत्व– दुष्यंत होने का भ्रम) से आच्छादित हो जाती है। यह दोष ऐसा है, जैसे सीपी के टुकड़े को देखकर चांदी के टुकड़े का भ्रम होना। नाटक में दुष्यंत आदि पात्र को पढ़कर या देखकर भ्रांतिवश

स्वयं को दुष्यंत समझने लगता है। इसी कारण स्वयं को शकुंतला का प्रेमी समझने में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती एवं रस की निष्पत्ति हो जाती है।

साधारणीकरण के संबंध में आधुनिक काल में हिंदी के अनेक आलोचकों ने भी विचार किया है। इनमें आचार्य शुक्ल व डॉ0 नगेंद्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने लेख 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' में साधारणीकरण पर विचार करते हुए आलंबनत्व धर्म का साधारणीकरण स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल के अनुसार व्यक्ति विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से वह सहृदय के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। वे सीता के रूप का आलंबन का साधारणीकरण नहीं मानते, वरन् वे सीतात्व अर्थात् नायिका भाव या प्रेमिका भाव का ही साधारणीकरण मानते हैं।

डॉ. नगेंद्र ने शुक्ल जी के काव्यगत आश्रय से तादात्म्य तथा आलंबन 'आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण' का खंडन करते हुए कवि की अनुभूति का साधारणीकरण माना है। इनकी दृष्टि में कवि की अनुभूतियां ही सहृदय की अनुभूतियां बन जाती है। डॉ नगेंद्र के अनुसार साधारणीकरण ना तो आश्रय (राम) का होता है ना आलंबन(सीता) का, अपितु यह कवि की अनुभूति का होता है। जिसे हम आलंबन कहते हैं, वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है– कवि के अनुभूति का साधारणीकरण। कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानने से हमें चीरहरण के प्रसंग में दुर्योधन या अन्य पात्रों की अनुभूति का साधारणीकरण ना होने का कारण समझ में आता है। काव्य में चित्रित प्रत्येक भाव का साधारणीकरण उसी सीमा तक होता है, जहां तक कवि की भावनाओं के वह अनुरूप हो। यही कारण है कि 'तुलसीदास' की 'रामचरितमानस' पढ़ने पर हमें रावण खल पात्र के रूप में प्रतीत होता है, वहीं 'माइकल मधुसूदन दत्त' की रचना 'मेघनाथ वध' पढ़ने

पर हमारी सहानुभूति रावण के साथ होती है।

भट्टनायक से आरंभ होकर साधारणीकरण सिद्धांत पर विचार विमर्श वर्तमान में भी गतिशील है। नई कविता व समकालीन साहित्य ने रस के 'ब्रह्मानंद सहोदर' होने पर प्रश्न जरूर उठाए, किंतु सभी आलोचकों ने साधारणीकरण के महत्व को स्वीकार किया है, क्योंकि साधारणीकरण साहित्य के संप्रेषण की अनिवार्य प्रक्रिया है। काव्य के आस्वादन व संप्रेषण की प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक धरातल पर समझने हेतु साधारणीकरण सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण है। असाधारण (विशेष) का साधारण रूप में गृहीत होना ही साधारणीकरण है। साधारणीकरण हेतु विषयवस्तु का असाधारण होना अनिवार्य है। साधारणीकरण रसास्वाद में भूमिका का कार्य करता है। इसके द्वारा पाठक स्व–पर के बंधन (निज–मोह संकटता) से मुक्त हो जाता है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र के कुछ सिद्धांत जैसे 'निर्वैयक्तिकता सिद्धांत', 'विरुद्धों का सामंजस्य सिद्धांत', 'आसक्तिहीन आसक्ति का सिद्धांत' के कुछ अंश साधारणीकरण सिद्धांत से तुलनीय अवश्य हैं, किंतु साधारणीकरण सिद्धांत के समकक्ष किसी एक पाश्चात्य सिद्धांत को नहीं रखा जा सकता। साधारणीकरण का सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र की एक विशिष्ट उपलब्धि माना जाता है।

■■

(8)
अलंकार सिद्धान्त

चरणदास बर्मन

व्यवहार जगत के समान काव्य जीवन में भी गुण–दोषों के विवेचन (आलोचना) करने की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। इसी प्रवृत्ति के कारण साहित्य और काव्य के क्षेत्र में समय–समय पर समीक्षण के अनेक सिद्धान्त सामने आते रहे हैं। उनमें अलंकार सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण स्थान है। ''स्वभावतः मनुष्य अपने–आपको, अपने परिवेष को, परिवेषगत समस्त स्थूल–सूक्ष्म उपकरणों को सुन्दर से सुन्दरम् रुप में देखना चाहता है। इसी प्रवृत्ति के कारण व्यवहार–जगत में भी आलंकरणिक प्रसाधनों–उपकरणें को जन्म दिया और साहित्य–जगत में भी अलंकारों का उपकरणों के रुप में आख्यान एवं प्रतिष्ठापन किया। अतः अलंकरण की प्रवृत्ति और अलंकार विधानों को एक स्वाभाविक प्रवृत्ति मानकर ही इसका विवेचन–विश्लेषण वास्तविक अर्थ रुप में संभव हो सकता है। जीवन में जिस प्रकार व्यक्तित्व को निखारने, सजाने–संवारने के लिए अनेक प्रकार के धात्विक अलंकारों का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार काव्य व साहित्य में व्यंजित विचार, तथ्य, अनुभूति, चरित्र और घटना आदि को सजा–संवार कर, प्रभावी बनाकर रुपायित करने के लिए अलंकारों का प्रयोग या उपयोग किया जाता है।''[1]

* जन्म : 01 जुलाई 1971, पिता : श्री परदेशी बर्मन, धर्मपत्नी : श्रीमती पुष्पा बर्मन, शिक्षा : एम. ए., बी. एड., स्लेट, सम्प्रति : सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), शासकीय महाविद्यालय चन्द्रपुर, जिला– जांजगीर चांपा (छ.ग.), पिन– 495692, मो. : 9977962545, मेल– charanburmandas@gmail.com

भारतीय काव्यशास्त्र में रस के पश्चात् अलंकार सर्वाधिक प्राचीन सिद्धान्त माना गया है तथा अन्य काव्य सिद्धान्तों की अपेक्षा अलंकार का सर्वाधिक विवेचन प्राप्त होता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में आद्य आचार्य भरत मुनि से लेकर पं. विश्वेश्वर पाण्डेय तक अलंकार, काव्य समीक्षा का प्रमुख विषय रहा है। हिन्दी साहित्य में भी अलंकार समीक्षा का महत्वपूर्ण मान रहा है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों और आधुनिक आचार्यों ने अलंकार को काव्य के एक प्रमुख मानक के रुप में विवेचन किया है। भारतीय काव्यशास्त्र के आरंभ में समूचे 'काव्यशास्त्र' के लिए अलंकारशास्त्र का प्रयोग हुआ था। आरंभ से ही काव्य विवेचक लक्षण ग्रंथों के नामकरण में अलंकार पद का प्रयोग किए थे। इस संदर्भ में भामह कृत 'काव्यालंकार', उद्‌भट कृत 'काव्यालंकार सार संग्रह', वामन कृत 'काव्यालंकार सूत्र', रुद्रट कृत 'काव्यालंकार' और रुय्यक कृत 'अलंकार सर्वस्व' आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं।

अलंकार : व्युत्पत्ति

अलंकार शब्द में 'अलम्' उपपद है, जो 'कृ' धातु से संज्ञा में अथवा 'करण' के अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होकर विनिर्मित हुआ है। ''अलम्' शब्द का अर्थ 'पर्याप्त' और 'कृ' का अर्थ करना होता है। इस प्रकार अलंकार का अर्थ 'पूर्ण अथवा पर्याप्त' करना हुआ। 'पर्याप्त' अर्थ में 'अलम्' शब्द–समर्थ, उपयुक्त, योग्य आदि पर्याय के रुप में तथा काव्य अर्थ में 'अलम्' शब्द–कवि मानस की लोकोत्तोर अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ था।''[2] 'अलंकार', 'अलम्' और 'कार' नामक दो शब्दों के योग से बना है, जिसका अर्थ है– विभूषित करने वाला। अलंकार का शब्दार्थ है– भूषण, सजावट, श्रृंगार, आभूषण। व्याकरणाचार्यों ने अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति को दो अर्थों में माना है– पहला ''अलंम् करोति इति अलंकारः' अर्थात् जो अलंकृत करता है, सजाता है, संवारता है, वह अलंकार है। दूसरे रुप में इसकी व्युत्पत्ति 'अलंक्रियतेऽनेन इत्यलंकारः' अर्थात् जिसके द्वारा अन्य

अलंकृत (सुशोभित) किया जाता है, वह अलंकार है।''[3] इस प्रकार प्रथम व्युत्पत्तिपरक अर्थ में अलंकार 'कर्ता' अथवा 'विधायक' और द्वितीय अर्थ में अलंकार 'कारण' अथवा 'साधन' हुआ। ये दोनों व्युत्पत्तिपरक अर्थ अलंकार सिद्धान्त के विकास क्रम को दर्शाते हैं। संस्कृत और हिन्दी के अधिकांश आचार्य अलंकार के द्वितीय व्युत्पत्तिपरक अर्थ 'कारण' अथवा 'साधन' को स्वीकार करते हैं। ''अलंकार' वस्तुतः बोलने अथवा लिखने की शैली है।''[4] ''शब्द काव्य–पुरुष का शरीर और अर्थ उसकी आत्मा है। जैसे पुरुष में वीरता, उदारता, सुशीलता आदि अभ्यान्तर और सुन्दरता आदि बाह्य गुण होते हैं, वैसे ही काव्य में काव्य–गुण होते हैं। जैसे स्नान–मार्जन, सुगंध–अनुलेपन, माला–धारण, अलंकार–धारण आदि से पुरुष की सुन्दरता चमक उठती है, वैसे काव्य के अलंकारों से काव्य का सौन्दर्य निखर जाता है। अलंकारों से काव्य अधिक रोचक हो जाता है और उसका भाव सहज ही हृदयंगम हो जाता है। कथन के दो प्रकार होते हैं– साधारण और असाधारण। असाधारण का अर्थ है– निराला, वैचित्र्यपूर्ण, चमत्कारपूर्ण। कथन के असाधारण या चमत्कारपूर्ण प्रकार ही अलंकार है।''[5]

अलंकार की परिभाषा

संस्कृत काव्यशास्त्र में कतिपय आचार्यों ने अलंकार के स्वरुप विवेचन निम्नानुसार किया है–

1. आचार्य भामह शब्द और अर्थ की वक्रतापूर्ण उक्ति को अलंकार मानते हैं। 'काव्यालंकार' ग्रंथ में आचार्य भामह का कथन है–

वक्राऽभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।

2. आचार्य दण्डी ने 'काव्यदर्श' : 2/1 में काव्य के शोभाकार धर्मों को अलंकार माना है। दण्डी धर्म के अंतर्गत रस, रीति, गुण, ध्वनि आदि सभी तत्वों को सम्मिलित करते हुए कहते हैं कि –

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।

3. आचार्य वामन मूलतः रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य थे। वे अलंकार के द्वारा काव्य को ग्राह्य और सौन्दर्य मात्र को अलंकार मानते हैं। 'काव्यालंकार सूत्र' के 1/1/2 में अलंकार के संबंध में उनका कथन है कि –

काव्य ग्राह्यमलंकरात्। सौन्दर्यमलंकारः।

4. आचार्य रुद्रट अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यालंकार' में कथन की विशेष पद्धतियों को अलंकार स्वीकारते हैं। आचार्य रुद्रट के मतानुसार–

अभिधान–प्रकार–विशेषा एव चालंकाराः।

5. अग्निपुराणकार कृत 'अग्निपुराण' के 343/12 में उन्होंने कहा कि अर्थालंकारों से रहित कविता (सरस्वती) विधवा के समान होती है–

अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती।

स्पष्ट है कि अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण किया। सभी आचार्यों का अभिप्राय काव्य के किसी बाहरी तत्वों से नहीं अपितु वे रस, गुण, रीति, ध्वनि तत्वों का विकास अलंकार से ही मानते हैं। अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। किन्तु ध्वनि और रसवादी मान्यताओं का विकास सामने आने पर अलंकार की परिभाषा, स्वरूप और मान्यताओं में बुनियादी परिवर्तन परिलक्षित होता है।

हिन्दी अलंकार साहित्य का जन्म, आचार्य केशवदास और चिंतामणी की अलंकार साहित्य परंपरा के काल में हुआ। केशवदास ने काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि कविता रूपी कामिनी यद्यपि अच्छी जाति, अच्छे लक्षणों, अच्छे वर्णों, अच्छे छंदों और रस युक्त होने पर भी अलंकार के बिना सुशोभित नहीं होती है –

''जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न विराजई, कविता वनिता मित्त'।।''[6]

आचार्य आनंदवर्धन की भांति आचार्य चिंतामणी अलंकारों को शरीर के आभूषणों की तरह, काव्य शरीर के शोभावर्धक साधन मानते हैं–

''अलंकार ज्यौं पुरुष को हारादिक मन आनि।
प्रासोपम आदिक कवित अलंकार ज्यौं जानि।।''[7]

हिन्दी में गोविन्ददास अलंकार को काव्य का चमत्कारोत्पादक तत्व मानते हैं–

''रस तै बिगि तै भिन्न अरू शब्दार्थ के चमत्कार को प्रकट करै सो अलंकार है।''[8]

–दूषणोल्लास (पृष्ठ–137)।

हिन्दी के आधुनिक काल के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वीकार किया है कि– ''भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव करने में कभी–कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।''[9] डॉ. रामकुमार वर्मा का मत है कि– ''वस्तुतः अलंकारों का प्रयोग भाषा भावों का संचय करने में तथा उसके द्वारा जीवन के कार्यव्यापारों को आकर्षक बनाने में है। इन प्रयोगों को इसीलिए अलंकार नाम दिया गया है।''[10] कविवर सुमित्रानंदन पंत के मतानुसार– ''अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं हैं। वे भाव की अभिव्यक्ति के लिए विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं। वे वाणी के आचार–व्यवहार, रीति–नीति हैं। पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।''[11] श्री सीताराम चतुर्वेदी द्वारा प्रदत्त परिभाषा है, ''अलंकार वह निश्चल योजना है, जिसके अन्तर्गत काव्य का स्वरूप, उसके विविध अंग, अंगों के प्रकरण, प्रकरणों के अन्तर्गत कथा, वर्णन, संवाद और उन सब में व्याप्त एक विशेष उद्देश्य की अभिव्यक्ति, सब आ जाते हैं और यह सब पूरी योजना जिन अनेक भाषाओं के विधानों में पूरी होती है, उन सब की समष्टि

ही अलंकार है।''[12]

वस्तुतः काव्य में चरम सौन्दर्य का सन्निवेश करने वाला तत्व ही अलंकार है। अलंकार काव्य के लिए न तो आवश्यक है न गौण, अपितु कवि की अभिव्यक्ति के साथ स्वतः प्रयुक्त होने वाले सहज धर्म है। काव्यशास्त्र के जन्म से पूर्व सृजित वैदिक साहित्य में प्रयुक्त अलंकार इस बात का प्रमाण है।

अलंकार सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ

साहित्य और काव्य के क्षेत्र में अलंकारों के प्रयोग की परम्परा प्राचीनकाल से होती रही है। इसका प्रमाण वैदिक संहिताओं में अनेक स्थलों पर उपमा, रुपक, विरोधाभास, विभावना आदि अलंकारों के रम्य प्रयोग में मिलते हैं। काव्यालोचन के सिद्धान्त संबंधी जितने भी ग्रंथ ग्यारहवीं शती तक रचे गये, उनमें से प्रायः सभी प्रमुख ग्रंथों के नामकरण में अलंकार शब्द जुड़ा हुआ है। काव्य–शास्त्र के प्रर्वतन से भी बहुत पहले अलंकारों का प्रयोग होने लगा था और अलंकार–सिद्धान्त अस्तित्व में आ चुका था। वेदों की भाषा का अध्ययन करने के लिए 'निरुक्त' और 'निघण्टु' जैसी रचनाएँ अस्तित्व में आयी। ''सिद्धान्त निरुपण की दृष्टि से प्रथम ग्रंथ आचार्य 'यास्क' का 'निरुक्त' को माना गया है, जिसमें आचार्य 'यास्क' ने अपनी व्याख्या में वेदों से उपमा की परिभाषा इस प्रकार दी है– 'यद् अतत् तत्सद् शम् इति गार्म्यः' अर्थात् गार्म्य का कथन कि जब एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न रहे, किन्तु दोनों में थोड़ा–सा साम्य रहे, तो उपमा होती है।''[13] 'निघण्टु' में वैदिक उपमा का अध्ययन कर उसके 12 भेद बताये गये हैं। व्याकरणाचार्य पाणिनि ने उपमा के चारों अंगों– उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा वाचक–शब्द का भी निरूपण किया है। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' के सोलहवें अध्याय के 43 से 87 तक 45 श्लोकों में उपमा, रूपक, दीपक और यमक अलंकार का विवेचन किया है। इसमें उपमा के पाँच भेदों (प्रशंसा, निंदा, कल्पिता, सहशी, किंचित्सदृशी) तथा यमक के दस भेदों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसी

प्रकार राजशेखर के काल्पनिक विवरणों में भी अलंकारों के नाम मिलते हैं। इस प्रकार अनेक उपलब्ध उदाहरण, अलंकार रुप–सिद्धान्त की प्राचीनता प्रमाणित करते हैं।'' अलंकार के स्वरुप विवेचन की परम्परा, कालक्रमानुसार प्रमुख आचार्य एवं उनके ग्रंथ इस प्रकार हैं–

1. भामह – काव्यालंकार – 6 वीं शताब्दी,
2. दण्डी – काव्यदर्श – 7वीं शताब्दी,
3. उद्‌भट – काव्यालंकार सार संग्रह – 8वीं शताब्दी,
4. वामन – काव्यालंकार सूत्र – 9वीं शताब्दी,
5. रुद्रट – काव्यालंकार – 9वीं शताब्दी,
6. रुय्यक – अलंकार सर्वस्व – 12वीं शताब्दी,
7. जयदेव – चंद्रालोक – 13वीं शताब्दी,
8. विद्याधर – एकावली – 14वीं शताब्दी,
9. अप्पय दीक्षित– कुवलयानंद – 17वीं शताब्दी।''[14]

अलंकारों का विकास

अलंकार का विकास तब से लेकर अद्यावधि तक संस्कृत और हिन्दी में अलंकारों का विकासक्रम स्पष्टतः निम्नानुसार देखा जा सकता है।

(क) संस्कृत में अलंकारों का विकास

संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र के लिए अलंकारशास्त्र, साहित्य विद्या, काव्यालंकार, क्रियाकल्प शब्दों का प्रयोग मिलते हैं। इनमें अलंकारशास्त्र शब्द सर्वाधिक प्रचलित माना जाता है। अलंकारशास्त्र कहने के दो कारण हो सकते हैं– एक तो प्राचीन आचार्यों ने समस्त सौन्दर्यजनक धर्मों का अलंकार शब्द से ग्रहण किया है। दूसरा, प्राचीन आचार्यों की धारणा थी कि अलंकार ही काव्य में प्रधान है। संस्कृत अलंकार काल को निम्न चरणों में दिखाया जा सकता है–

1. ध्वनि से पूर्व काल– इस काल के आचार्यों ने अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्व माना। इसलिए इस काल को अलंकार काल

भी कहा जा सकता है। इस काल के प्रमुख आचार्य भामह, दंडी, उद्‌भट, वामन, रुद्रट, अग्निपुराणकार आदि हैं।

2. ध्वनि काल– इस काल के अंतर्गत आनंदवर्धन, राजशेखर, कुंतक, अभिनव गुप्त और धारानरेश भोज का नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय हैं।

3. ध्वन्युत्तर काल– इस काल के प्रमुख आचार्यों में मम्मट, रुय्यक, वाग्भट, हेमचंद्र, जयदेव, विद्याधर, विश्वनाथ, विद्यानाथ, अप्पय दीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ का महत्वपूर्ण स्थान है।

(ख) हिन्दी साहित्य में अलंकारों का विकास

हिन्दी साहित्य में प्रथम आचार्य केशवदास को माना जा सकता है। हिन्दी अलंकार साहित्य को निम्न चरणों में बाँटा जा सकता है।

अ. रीतिकालीन अलंकार साहित्य– इस काल के आचार्य केशवदास, चिंतामणी, जसवंत सिंह, मतिराम, भूषण, देव, कुलपति मिश्र, श्रीधर, भिखारीदास आदि हैं।

ब. गद्यकालीन अलंकार साहित्य– कविराज मुरारिदास, बिहारीलाल भट्ट, सेठ पोद्‌दार ने मौलिक अलंकारों की उद्‌भावना की।

स. आधुनिक अलंकार साहित्य– इस काल में विद्वानों ने अलंकार को साधन पद प्रदान किया। इस काल के प्रमुख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, सुमित्रानंदन पंत, गुलाबराय, नंददुलारे वाजपेयी, राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ. भागीरथी मिश्र, डॉ. ओप्रकाश शर्मा, किशोर काबरा, डॉ. देशराज भाटी और वचन देवकुमार के नाम उल्लेखनीय हैं।

अलंकारवादी प्रमुख आचार्य

1. आचार्य भामह – अलंकार–सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक एवं प्रथम आचार्य भामह हैं। भामह संस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध आचार्य थे। इनके पिता रक्रिल गोमी (रकृतगोविन) मूलतः कश्मीर निवासी थे।

भामह का काल बलदेव उपाध्याय ने छठी शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित किया है। भामह कृत 'काव्यालंकार' अलंकार शास्त्र का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है, जो बीसवीं शताब्दी के आरंभ में प्रकाशित हुआ था। 'काव्यालंकार' नामक ग्रंथ में छः परिच्छेद में 440 श्लोक हैं। उन्होंने छः परिच्छेदों का विभाजन कर विषयों की तालिका इस प्रकार से किया है–

''1. काव्य के साधन, लक्षण तथा भेदों का निरुपण, 2. अलंकार निरुपण, 3. अलंकार निरुपण, 4. दस दोषों का निरुपण, 5. न्याय विरोधी दोष निरुपण एवं 6. शब्द शुद्धि निरुपण।''[15]

सर्वप्रथम आचार्य भामह ने ही अलंकार को नाट्यशास्त्र से मुक्त कर एक स्वतंत्र शास्त्र या सम्प्रदाय के रुप में प्रस्तुत किया। भामह से ही अलंकार सम्प्रदाय की व्यवस्थित परम्परा का आरंभ हुआ। इसीलिए अधिकांश विद्वान भामह को काव्यशास्त्र का आद्य आचार्य मानते हैं। उन्होंने अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्व घोषित किया। आचार्य भामह अलंकार रहित काव्य को काव्य न मानकर ''वार्ता'' मात्र कहते हैं। भामह काव्य की परिभाषा इस प्रकार दिये हैं– ''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों का सहभाव काव्य है। यहाँ सहित शब्द अस्पष्ट है। उन्होंने 'काव्यालंकार' में अलंकार, वर्ण विन्यास, अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, गुण आदि तत्वों का विवेचन किया है। आचार्य भामह ने अलंकार को काव्य का एक आवश्यक आभूषक तत्व मानते हुए कहा– 'न कान्तमपि विभूषणं विभाति वनिता मुखम्।' अर्थात् बिना अलंकारों के काव्य उसी प्रकार शोभित नहीं हो सकता, जिस प्रकार किसी स्त्री का मुख बिना अलंकारों के शोभा नहीं पाता। भामह ने 38 अलंकारों का विवेचन किया था। ''द्वितीय परिच्छेद में दो शब्दालंकार– अनुप्रास और यमक तथा तृतीय परिच्छेद में 36 अलंकारों– प्रेयस, रसवत्, ऊर्जस्वी, हेतु, सूक्ष्म, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, विभावना, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत, प्रशंसा, ब्याजस्तुति, निदर्शना, दीपक,

उपमा, रूपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, परिवृति, संदेह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, यथासंख्या, आशी, विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, स्वाभावोक्ति अलंकारों का विवेचन किया है।''[16] इनमें से कितने परम्परा प्राप्त हैं और कितने उनके द्वारा अन्वेषित, यह कहना कठिन है। उनके समय तक अलंकारों का वर्गीकरण नहीं किया गया था। स्वयं उन्होंने अलंकारों का क्रम किसी तर्कसंगत आधार पर तय नहीं किया है। भामह के समय में गुण और अलंकारों का विवाद नहीं था, किन्तु यह विवाद अवश्य था कि शब्दालंकार अधिक रमणीय है या अर्थालंकार। भामह अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं मानते। भामह ने 'वक्रोक्ति' को सब अलंकारों का मूल माना। वक्रोक्ति का अभिप्राय अतिशयोक्ति और अभिरंजना भी है। वक्रोक्ति एक ऐसी शब्दोक्ति है, जो वक्र अर्थ का विधायक हो। परम्परानुमोदित अलंकारों में हेतु, सूक्ष्म, वेश और स्वाभावोक्ति का उन्होंने इसीलिए खण्डन किया है, क्योंकि उनके मूल में वक्रोक्ति का अभाव होता है। भामह 'रीति' को न मानकर तीन काव्य गुणों को मान्य किया। कुछ विद्वान भामह को अभाववादी मानते हैं, क्योंकि उन्होंने काव्य में ध्वनि की सत्ता को स्वीकार नहीं किया।

2. आचार्य दण्डी– अलंकार सम्प्रदाय के विकास क्रम के दूसरे प्रमुख आचार्य दण्डी हैं। इनका समय सातवीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है। दक्षिण भारतीय निवासी दण्डी पल्लव नरेश सिंह विष्णु के सभा पण्डित थे। इनकी रचना 'काव्यादर्श' में चार परिच्छेद तथा 660 श्लोक हैं। दण्डी वैदर्भी तथा गौड़ी रीति के अंतर को स्पष्ट करने वाले प्रथम आचार्य हैं। उन्होंने इसका संबंध गुण से स्थापित किया। दण्डी के 'काव्यदर्श' में परिच्छेद अनुसार निरुपित विषयों की तालिका निम्न है– ''प्रथम परिच्छेद में काव्यलक्षण, काव्यभेद, वैदर्भी गौड़ी रीतियाँ, दस गुण तथा प्रतिभा का निरूपण; द्वितीय परिच्छेद में 35 अर्थालंकार का निरुपण; तृतीय परिच्छेद में यमक तथा चित्रबंध के 16 प्रकारों का वर्णन और चतुर्थ परिच्छेद में दशविध काव्य के दोषों

का वर्णन किया गया है।''[17]

अलंकार की परिभाषा देते हुए आचार्य दण्डी ने काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म को अलंकार कहा है– 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकरान् प्रचक्षते।' उन्होंने आठ रसों को रसवत् अलंकार कहा। भावों को प्रेयस्वद् अलंकार, रसाभास तथा भावाभास को ऊर्जस्वि अलंकार तथा भावशान्ति को समाहित अलंकार माना है। ''इतना ही नहीं काव्यशोभा के धर्म गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि काव्य–तत्वों के अतिरिक्त संधि, संध्यंग, वृत्ति, वृत्यंग, लक्षण आदि नाट्य–तत्वों को भी अलंकारों में समेटने का प्रयास किया। उपमा को साधारण अलंकार तथा रीति व गुण को असाधारण अलंकार माना।''[18] दण्डी सम्पूर्ण अलंकारों का आश्रय अतिशयोक्ति को स्वीकारते हैं। उनके अनुसार शब्दार्थ–वैचित्र्य ही अलंकार है। दण्डी का ध्यान काव्य के आत्मतत्व की ओर न जाकर केवल काव्य–शरीर और अलंकार तक सीमित रह गया। उनका मत है कि सम्पूर्ण सौन्दर्य–तत्व उस काव्य–शरीर के अलंकार है। दण्डी ने 39 अलंकारों का वर्णन किया है, जिसमें 4 शब्दालंकार – अनुप्रास, यमक, चित्र, प्रहेलिका का विवेचन किया है। दण्डी 'काव्यादर्श' के द्वितीय परिच्छेद में 35 अर्थालंकार का वर्णन इस प्रकार किया है– स्वाभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, रसवत्, ऊर्जस्वी, लेष, प्रेय, हेतु, सूक्ष्म, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, विभावना, समाधि, उदात्त, श्लेष, अपह्नुति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत प्रशंसा, ब्याजस्तुति, निदर्शना, परिवृति, संसृष्टि, भाविक, यथासंख्या, आशी, विशेष, पर्यायोक्ति, समासोक्ति, अतिशयोक्ति और सहोक्ति। दण्डी एक कवि के रुप में प्रबंध काव्य को 'भाविक' अलंकार मानते हैं। वे अलग–अलग अलंकार का अलग–अलग उदाहरण देकर उनका भेद करने का प्रयास करते हैं। उन्होंने अतिशयोक्ति को पृथक अलंकार निरुपित किया, किन्तु वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति तथा अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं माना।

3. आचार्य उद्‌भट– अलंकार सम्प्रदाय में भामह और दंडी के परवर्ती आचार्य उद्‌भट कल्हण कृत राजतरंगिणी के अनुसार कश्मीर के राजा जयापीड का विद्वत्परिषद् के सभापति थे। इनका समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। आचार्य उद्‌भट कृत 'काव्यालंकार सारसंग्रह' में अलंकारों का आलोचनात्मक एवं वैज्ञानिक ढ़ंग से विवेचन किया गया है। यह ग्रंथ छः वर्गों में विभक्त है। ''इसकी 75 कारिकाओं में 41 अलंकारों का निरूपण है और 95 पद्यों में उदाहरण है। भामह का उन पर पर्याप्त प्रभाव है। उन्होंने अतिशयोक्ति, विभावना, यथासंख्य, सहोक्ति, संदेह और अनन्वय अलंकारों की परिभाषाएँ भामह से यथावत् ग्रहण की है, किन्तु इससे उनकी प्रतिभा पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगता।''[19] उद्‌भट ने अलंकारों का क्रम और उनके वर्ग भामह के काव्यालंकार के अनुरुप रखे हैं और प्रायः संख्या भी वही (38) दी है। उद्‌भट का अलंकार विवेचन अत्यन्त मौलिक तथा महत्वपूर्ण है। आचार्य उद्‌भट श्लेष को सभी अलंकारों में श्रेष्ठ मानते हुए श्लेष के दो प्रकार– शब्द श्लेष तथा अर्थ श्लेष की कल्पना तथा दोनों को अर्थालंकारों में ही परिगणित किया। पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, काव्यहेतु, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और संकर इन छः अलंकारो की उद्‌भावना की। इनका विवेचन किसी भी पूर्ववर्ती आचार्य ने नहीं किया। उद्‌भट ने रसवत्, प्रेयः, अर्जस्वः, समाहित तथा श्लिष्ट, इन पाँच अलंकारों के स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत किए हैं। इन्होंने भामह और दंडी के विचारों का समन्वय प्रस्तुत किया। भामह तथा दंडी ने उत्प्रेक्षावयव, उपमा, रूपक तथा यमक अलंकारों को उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत माना था, किन्तु इन्होंने इनको नहीं माना। आचार्य उद्‌भट ने गुण और अलंकार को काव्य में चारुता (सुन्दरता) का द्योतक माना है, लेकिन गुण और अलंकार के सत्य को अलग–अलग स्वीकार किया। वे उक्ति के विशिष्ट प्रयोग को चारुता कहते हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 8 रस माना था, उसमें उद्‌भट ने 9वाँ शान्त रस की प्रतिष्ठा की।

4. आचार्य रुद्रट – आचार्य रुद्रट को शतानंद के नाम से भी जाना जाता है। अलंकारवादी आचार्य रुद्रट का समय 9वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी प्रसिद्ध रचना ''काव्यालंकार'' है। इस ग्रंथ में 16 अध्याय तथा पद्य संख्या 734 है। सोलह अध्याय में से ग्यारह अध्यायों में अलंकारों का विवेचन स्पष्ट और वैज्ञानिक है। उन्होंने अलंकारों को महत्व प्रदान करते हुए कहा कि अलंकार शब्द और अर्थ को शोभा प्रदान करते हैं। ''रुद्रट के महत्व के कारण यह है कि उनके पूर्व आचार्यों द्वारा निरूपित छत्तीस अलंकारों के साथ पच्चीस नूतन अलंकारों का आविष्कार इन्होंने किया और लगभग सभी अलंकार परवर्ती आचार्यों को मान्य हुए। इतने अलंकारों के अविष्कार का श्रेय केवल रुद्रट को ही प्राप्त है।''[20] आचार्य रुद्रट ने कथन की विशेष भंगिमा को अलंकार स्वीकार करते हुए कहा– ''अभिधान–प्रकार–विशेषा एवं चालंकाराः।'' रुद्रट ने वैज्ञानिक आधार पर अलंकारों के वर्गीकरण का प्रयास किया, जो उस युग में एक नितान्त मौलिक बात थी। काव्यालंकार के ग्यारहवें अध्याय में अर्थालंकारों के भेद के चार मूल तत्व – वास्तव वर्ग में 23 अलंकार, औपम्य वर्ग में 21 अलंकार, अतिशय वर्ग में 12 अलंकार और श्लेष वर्ग मे 10 अलंकारो का वर्णन है। इन्होंने अलंकारों के सूक्ष्म भेद–उपभेदों का भी निरूपण वैज्ञानिक ढ़ग से किया है। इनसे पहले स्वाभावोक्ति की जो व्याख्याएँ उलझी हुई थी, उनका स्पष्टीकरण रुद्रट ने सफलतापूर्वक किया। आचार्य रुद्रट ही सर्वप्रथम ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने रस को अलंकार मानने की प्रवृत्ति का खण्डन किया और रस को स्वतंत्र स्थान दिया। रुद्रट ने काव्य में रस और अलंकार दोनों को पृथक तथा स्वतंत्र मानते हुए दोनों को समान महत्व दिया।

5. आचार्य वामन– गुणवादी आचार्य वामन का समय 8वीं शताब्दी का उत्तरार्ध तथा 9वीं शताब्दी का पूर्वाद्ध में सिद्ध होता है। वामन रीति सम्प्रदाय के संस्थापक–आचार्य होते हुए भी अलंकारवादी माने गये हैं। वामन द्वारा रचित ग्रंथ ''काव्यालंकार सूत्रवृत्ति'' है, जो

काव्य शास्त्र परम्परा का दर्शन निर्माण का प्रथम प्रयास है। आचार्य वामन स्वयं एक कवि थे। ''काव्यालंकार सूत्रवृत्ति'' सूत्र–शैली में निबद्ध एकमात्र ग्रंथ है। इसमें पाँच अधिकरण हैं, जिसके चतुर्थ आलंकारिक नामक अधिकरण में अलंकारों का निरूपण है। आचार्य वामन ने 32 अलंकारों का विवेचन किया है। इन्होंने 'व्याजोक्ति' नामक नवीन अलंकार की उद्‌भावना की है। वामन के दो सूत्र अलंकार के संबंध में प्रसिद्ध है– 'काव्यं ग्राह्यलंकरात्' तथा 'सौन्दर्यम् अलंकारः'। वामन का कथन है कि– ''काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः'' अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्म गुण हैं और गुणों का हेतु अलंकार है। अपने मत को और आगे व्यक्त करते हुए वे कहते हैं– 'काव्य ग्राह्यमलंकरात्, सौन्दर्यमलंकारः' अर्थात् काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होते हैं और सौन्दर्य ही अलंकार है।''[21] उन्होंने अलंकार को सौन्दर्य का प्रतिष्ठापक कहा है। वे गुण और अलंकार दोनों से सम्पन्न शब्दार्थ को काव्य मानते हुए कहा है– गुण (प्रसाद, ओज, माधुर्य) काव्य का नित्य धर्म और अलंकार अनित्य धर्म (सहायक मात्र) है। उनके अनुसार गुण यदि काव्य के शोभाकारक धर्म है, तो अलंकार उस शोभा के वर्धक है और रस गुणों की कांति। हालांकि उनकी दृष्टि में अलंकार का महत्व गुणों की अपेक्षा कम हो गया। वामन ही पहले ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने गुणों और अलंकारों में भेद स्पष्ट किया। वामन अर्थालंकार को उपमा का प्रपंच मानते हैं। उन्होंने अलंकार को साध्य और साधन दोनों माना है।

6. आचार्य कुन्तक– अलंकार साहित्य के विकास की दृष्टि से वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्तक का समय 11वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। कुन्तक अलंकारशास्त्र के एक मौलिक विचारक विद्वान एवं अभिधावादी आचार्य थे। उन्होंने सर्वप्रथम भामह आदि पूर्वाचार्यों की भांति 'सालंकारः काव्यता' कहकर काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। कुन्तक की कृति ''वक्रोक्ति जीवितम'' में कुल चार उन्मेष है। 'वक्रोक्ति जीवितम' में

वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा माना गया है। वे अपनी कृति में कतिपय अलंकारों का विवेचन करने पर भी संख्यात्मक दृष्टि से अलंकार को कुछ नहीं दे पाए। इतना अवश्य है कि अलंकार की काव्य में गौणता सिद्ध हो जाने के पश्चात् पुनः उन्होंने अलंकारों को महत्व प्रदान किया था। ''आचार्य कुन्तक ने 20 अलंकारों का निरूपण किया और इनमें से भी प्रतिस्तूपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, निदर्षना और परिवृत्ति– इन छह सादृष्यमूलक अलंकारों का उपमा में, समासोक्ति का श्लेष में अन्तर्भाव करके शेष 13 अलंकार मान्य ठहराये।''[22] वे अलंकारों का अंतर्भाव वाक्य वक्रता के अन्तर्गत रखा। आचार्य कुन्तक काव्य में अलंकार के पक्षधर हैं, लेकिन अलंकार को काव्य का शोभाकारक धर्म न मानकर अलंकार को काव्य का उपादान कारक मानते हैं। उनके विचार से काव्य अलंकार तथा अलंकार्य की सत्ता अलग–अलग है। वे वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में भेद नहीं मानते। कुन्तक के अनुसार, स्वाभावोक्ति अलंकार्य है और वक्रोक्ति अलंकार है। वक्रोक्ति अलंकार का मूल है और यही वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है।

7. आचार्य आनंदवर्धन– काव्यशास्त्र में ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनंदवर्धन का अलंकार साहित्य में अपना विशेष योगदान है। आचार्य आनंदवर्धन का काल 9वीं शताब्दी मान्य है। वे कश्मीर निवासी और तत्कालीन कश्मीर नरेश अवन्तिवर्मन के समकालीन थे। आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। इन्होंने पाँच ग्रंथों की रचना की है– विषमबाणलीला, अर्जुनचरित, देवीशतक, तत्वालोक और ध्वन्यालोक। ध्वन्यालोक चार उद्योत में विभक्त है। ध्वन्यालोक में 'अनन्ता हि वाग्विकल्पाः' कहकर अलंकारों की अगणयेता की ओर संकेत किया। अलंकार स्वरुप विवेचन की दृष्टि से 'ध्वन्यालोक' का समूचे काव्यशास्त्र में अभूतपूर्व स्थान है। क्योंकि आचार्य आनंदवर्धन ने ही सर्वप्रथम पूर्वाचार्यों की 'अलंकार की काव्य के लिए अनिवार्यता' की धारणा को ठोस प्रमाणों द्वारा खंडन करके

अलंकारों को गौणता प्रदान की। ''उन्होंने अलंकारों को कटकादिवत् स्वीकार करते हुए कहा– ''अंगाश्रितास्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्, चारुत्व हेत्वस्तु अलंकाराः'' अर्थात् काव्य में अलंकार की स्थिति कटकादि आभूषणों के समान ही हुआ करती है। ये अलंकार काव्य में चारुत्व के हेतु हुआ करते हैं।''[23] आनंदवर्धन के अनुसार अलंकार स्वयं में साध्य न होकर साधन है। काव्य में रस साध्य है और रस का उपकारक तत्व अलंकार साधन है।

8. आचार्य राजशेखर– इनका समय दशम शती पूर्वार्द्ध माना जाता है। राजशेखर काव्यशास्त्र के पंडित थे। वे गुर्जरवंशीय नरेश महेन्द्रपाल प्रथम एवं उनके बेटे महिपाल के गुरू एवं मंत्री थे। उनकी प्रसिद्ध रचना ''काव्यमीमांसा'' है, जिसमें अट्ठारह अधिकरण हैं। समूचे संस्कृत साहित्य में, ये ऐसे आचार्य हैं, जो लीक से हटकर अपनी बात कहते हैं। भवभूति के समान राजशेखर के शब्दों में अर्थ की प्रतिध्वनि निकलती है। इन्होंने उपमा को सम्पूर्ण अलंकारों की जननी कहा है। राजशेखर भी अलंकार के विकास में विशेष योग नहीं दे पाए, किन्तु अलंकार को वेद का 'सातवाँ' अंग मानकर अलंकारों के प्रति उदारदृष्टि का परिचय अवश्य दिया था।

9. अभिनव गुप्त– अभिनव गुप्त का समय दशम शती माना गया है। उनकी प्रमुख कृति– अभिनव भारती नाट्यशास्त्रीय टीका तथा लोचन ध्वन्यालोकीय टीका है। इन्होंने अलंकारशास्त्र को दर्शन के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया। ये रसवादी आचार्य थे। अभिनव गुप्त कहते हैं कि जिस प्रकार आत्मा के अभाव में अचेतन अथवा मृत शरीर के ऊपर आभूषण पैदा नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार रसविहीन काव्य में अलंकार शोभा पैदा नहीं कर सकते। उनकी अलंकार विषयक धारणाएँ काव्यशास्त्र की महत्वपूर्ण निधि मानी जाती है। किन्तु अलंकार के विकास में विशेष योग नहीं दे पाए।

10. आचार्य भोज – धारानरेश आचार्य भोज का समय 1010 ई0 सन् से 1055 ई0 तक माना जाता है। अलंकार विकास, वर्गीकरण

और स्वरुप विवेचन की दृष्टि से आचार्य भोज का नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय है। भोज प्रणीत 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'श्रृंगारप्रकाश' दो काव्यशास्त्रीय ग्रंथ हैं। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में पाँच परिच्छेद है। प्रथम परिच्छेद में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, दोष तथा शब्दगुणों, अर्थगुणों का विवेचन है। द्वितीय परिच्छेद में 24 शब्दालंकारों का वर्णन है। तृतीय परिच्छेद में 24 अर्थालंकारों का वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में 24 उभयालंकारों का तथा पंचम परिच्छेद में रस का विवेचन किया गया है।'' भोज द्वारा विवेचित अलंकार इस प्रकार हैं–

1. बाह्य अथवा शब्दालंकार– जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गुढ़, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य और अन्विति। ये कुल 24 हैं।

2. आभ्यान्तर अथवा अर्थालंकार– विभावना, हेतुअहेतु, सूक्ष्म, विरोध, उत्तर, संभव, भेद, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्षना, व्यतिरेक, समाहित, भ्रांति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, भाविक और अभाव। ये कुल 24 हैं।

3. उभयालंकार– उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपह्नुति, समासोक्ति, समाधि, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत, प्रशंसा तुल्ययोगिता, लेष, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष और संसुष्टि। ये कुल 24 हैं।''[24] आचार्य भोज ने 'प्रबंधालंकार' की उद्‌भावना कर प्रबंध या नाटक को भी अलंकारों में परिगणित किया। वे अलंकारों को बाहरी शरीर तक न मानते हुए अलंकारों के लिए कटक कुण्डल आदि की उपमा को अपर्याप्त मानते हैं।

11. आचार्य मम्मट– ध्वनि प्रतिष्ठापनाचार्य मम्मट का समय 11वीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है। आचार्य मम्मट संस्कृत काव्यशास्त्र के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों में से एक समझे जाते हैं। उनकी प्रसिद्धि का कारण उनकी कृति ''काव्यप्रकाश'' है। इसे प्रथम

काव्यशास्त्रीय ग्रंथ माना जाता है। यह ग्रंथ न केवल अलंकारों की दृष्टि से अपितु सम्पूर्ण काव्यशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ है। 'काव्यप्रकाश' में 10 उल्लास, 142 कारिकायें तथा 61 अलंकारों का विवेचन है। 'काव्यप्रकाश' में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यभेद, शब्दशक्ति, त्रिविध काव्यार्थ, ध्वनि, गुण, अलंकार, रीति, काव्यदोश आदि विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आचार्य मम्मट ने सम, सामानय, विनोक्ति एवं अतद्गुण, इन चार नवीन अलंकारों की उद्भावना की। मम्मट ने काव्य लक्षण में ''तददोषौ शब्दार्थो सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि'' कहकर काव्य में अलंकारों की अनिवार्य उपयोगिता को समाप्त कर दिया। उनकी दृष्टि में अलंकारों का कोई विशेष महत्व नहीं है। रस की मात्र उपकारता ही उनका कार्य और प्रयोजन है, अन्य कुछ नहीं।

12. आचार्य रुय्यक– कश्मीर के विद्वान परिवार में राजानक रुय्यक का जन्म बारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में माना गया है। रुय्यक का प्रसिद्ध ग्रंथ 'अलंकारसर्वस्व' है, जिसमें भाषा की पाक और चिंतन की परिपक्वता दिखाई देती है। ''अलंकारसर्वस्व' के दो भाग हैं– सूत्र तथा वृत्ति। रुय्यक ने सतासी सूत्रों में 06 शब्दालंकार तथा 75 अर्थालंकारों का नपी तुली भाषा में निरूपण किया है, जिनमें परिणाम, रसवदादि, विकल्प तथा विचित्र नवीन अलंकार है। इन सूत्रों की वृत्ति में भामह से प्रारंभ कर सर्वस्वकार के समय तक विकसित अलंकारमीमांसा का स्वरुप, भेद तथा उदाहरणों के साथ मौलिक उपस्थापन हैं। अलंकारों के शब्द, अर्थ तथा उभय में विभाग के लिए रुय्यक का सिद्धान्त आश्रयाश्रयि भाव का है। जो अलंकार जिस पर आश्रित होता है, वह उसका अलंकार होता है।''[25] रुय्यक ने अर्थालंकारों को सादृश्य, विरोध, श्रृंखलाबंध, तर्कन्याय, वाक्यन्याय, लोकन्याय, गूढ़ार्थप्रतीति तथा चित्तवृत्तिमूल के वर्गों में बाँटा है। इस वर्गीकरण को सर्वाधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक माना जाता है। इससे पूर्व किसी भी अलंकाराचार्यों ने मूलाधारों को लेकर व्यवस्थित

वर्गीकरण की पद्धति नहीं अपनायी थी। आचार्य रुय्यक ने ''उपमैव प्रकारवैचित्र्येणानेकालंकार बीज भूतेति प्रथमनिर्दिष्टा'' कहकर उपमा को अलंकारों का मूल माना है। रुय्यक ने ध्वनि सिद्धान्त के प्रति अपनी आस्था प्रकट करने के पश्चात् पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यशास्त्रीय मतों का निरूपण किया है।

13. आचार्य जयदेव– आचार्य जयदेव तेरहवीं शताब्दी के विद्वान साहित्यकार हैं। जयदेव ने सर्वप्रथम काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। जयदेव कृत 'चन्द्रालोक' अपनी रुचिकर शैली के लिए प्रसिद्ध है। 'चन्द्रालोक' दस मयूखों में विभक्त है। इस ग्रंथ के पंचम मयूख में 04 शब्दालंकारों– अनुप्रास, पुनरुक्तप्रकाश, यमक और चित्र तथा उनके भेदों और 87 अर्थालंकारों का विवेचन किया है। आचार्य जयदेव ने कतिपय नए अलंकारों की उद्भावना की, जिसमें स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास (अनुप्रास के भेद), शब्दालंकार और अनुगुण, असंभव, अवज्ञा, उन्मीलित, उल्लास, प्रौढ़ोक्ति, प्रहर्षण, परिकरांकुर, पूर्वरुप, भाविकच्छवि, विकस्वर, निशादन तथा संभावना है। 'चन्द्रालोक' में काव्यलक्षण, काव्यहेतु, त्रिविधशब्द, दोष निरूपण, लक्षण निरूपण, गुण विवेचन, अलंकार, रस, भाव, रीति, वृत्ति, व्यंजनाविमर्श, ध्वनिभेद, गुणीभूतव्यंय काव्य, लक्षणाविवेचन तथा अभिधा निरूपण किया गया है। ''जयदेव अलंकार को काव्य का मात्र बाह्य धर्म न मानकर कुछ और भी मानते हैं। आचार्य जयदेव का स्पष्ट कथन है, जो चुनौती से भी भरा हुआ है, ''अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृति। असौ न मान्यते कस्मादनुष्णमनलंकृति।। अर्थात् जो शब्दार्थ वाले काव्य को अलंकार से विहीन मानते हैं, वे वह क्यों नहीं मानते कि आग में उष्णता नहीं रहती।''[26] इसका तात्पर्य यह है कि अलंकार काव्य का अनिवार्य धर्म है। इसके बिना उसकी गति सम्भव नहीं हो सकती। आचार्य जयदेव ने अलंकार–निरूपण की ऋजु एवं संक्षिप्त शैली का प्रवर्तन किया, जिसका अनुसरण रीतिकाल के अनेक कवियों ने किया। आचार्य जयदेव ने अलंकार और

अलंकार्य में भेद माना है।

14. आचार्य विश्वनाथ– कलिंग निवासी विश्वनाथ महापात्र संस्कृत काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ और आचार्य थे। उन्होंने अपने आप को सांधिविग्राहिक 'अष्टदशभाषावारविलासिनीभुजंग' कहा है। आचार्य विश्वनाथ अलाउद्दीन खिलजी के समकालीन थे। आचार्य विश्वनाथ की प्रसिद्ध कृति 'साहित्य दर्पण' का सम्पूर्ण काव्यशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्व है। इस ग्रंथ का रचनाकाल 14 वीं शताब्दी माना गया है। ''साहित्य दर्पण' के दशम परिच्छेद में 8 शब्दालंकारों, 75 अर्थालंकारों और 2 समिश्रित अलंकारो का विवेचन है।''[27] इन्होंने निश्चय तथा अनुकूल दो नवीन अलंकारों का निरूपण किया। 'साहित्य दर्पण' भी साहित्यालोचना का एक प्रमुख ग्रंथ है। इसमें श्रव्य और दृश्य दोनों प्रभेदों के संबंध में विचार है। आचार्य विश्वनाथ रस को साहित्य की आत्मा मानने वाले पहले संस्कृत के आचार्य थे। ''आचार्य विश्वनाथ की अलंकार के स्वरुप–संबंधी मान्यता इस प्रकार है, ''शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिषायिनः। रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकरास्तेऽङ्गदादिवत्।। अर्थात् जिस प्रकार अंगदादि आभूषण शरीर की शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार काव्य में शोभा की अतिशयता लाने वाले रस आदि के उपकारक, शब्दार्थ के अस्थिर धर्म अलंकार हुआ करते हैं।''[28]

15. आचार्य जगन्नाथ– काशी की विभूति पंडितराज जगन्नाथ का समय 17वीं शताब्दी स्वीकृत किया गया है। ''रसगंगाधर'' आचार्य जगन्नाथ कृत लोकप्रिय काव्यग्रंथ है। 'रसगंगाधर' दो आननों में विभक्त है। प्रथम आनन में काव्यलक्षण, काव्यहेतु, काव्यभेद तथा शब्द अर्थ गुणों की चर्चा की गयी है। इसके अतिरिक्त रस, भाव, रसाभास, भावसंधि, भावशबलतादि का विवेचन है। द्वितीय आनन में संलक्ष्यक्रमध्वनि के साथ 13 अलंकारों और तृतीय आनन में 57 अलंकारों सहित कुल 70 अलंकारों की उदाहरण सहित व्याख्या की गई है। पंडितराज जगन्नाथ रमणीयता के प्रयोजकों को अलंकार

मानते हैं– 'रमणीयता प्रयोजका अलंकारा।' इन्होंने आचार्य रुय्यक के ग्रंथ 'अलंकारसर्वस्व' के अनुसार अलंकार विवेचन किया तथा नव्य न्याय शैली का प्रयोग किया। आचार्य जगन्नाथ ने काव्य का वर्गीकरण करते हुए शब्दालंकार को अधम काव्य, अर्थालंकार को मध्यम काव्य और गुणीभूत व्यंग्य को उत्तम काव्य माना है। पंडितराज जगन्नाथ रस को काव्य का मूल तत्व नहीं मानते। वे अलंकारों को केवल साधन मात्र मानते हैं, साध्य नहीं।

16 आचार्य हेमचन्द्र– आचार्य हेमचन्द्र का समय बारहवीं शताब्दी का मध्यकाल माना गया है। हेमचन्द्र कृत 'काव्यानुशासन' में आठ अध्याय, तीन भाग–सूत्र, वृत्ति और उदाहरण में विभक्त तथा 208 सूत्रों में काव्यशास्त्र के सारे विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम अध्याय में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, गुणदोष, अलंकारलक्षण, शब्दार्थलक्षण तथा लक्ष्यार्थलक्षण, मुख्यार्थ, व्यंग्यार्थ का विवेचन है। द्वितीय में रस निरूपण, तृतीय में काव्यदोष समीक्षा, चतुर्थ में गुण विवेचन, पंचम में अलंकार की व्याख्या और षष्ठम् अध्याय में छः शब्दालंकार और 29 अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त संसृष्टि को शंकर, तुल्ययोगिता को दीपक, पर्याय को परिवृत्ति, अनन्वय और उपमेयोपमा को उपमा तथा प्रतिवस्तुपमा, दृष्टांत और निदर्षना को निदर्षन में अंतर्भाव किया गया है। मौलिकता के विषय में हेमचन्द्र का अपना स्वतंत्र मत है।

17 आचार्य वाग्भट प्रथम– वाग्भट प्रथम का समय बारहवीं शताब्दी का मध्यभाग माना गया है। इनकी प्रसिद्ध कृति 'वाग्भटालंकार' है, जो पाँच परिच्छेदों में विभक्त हैं। इस ग्रंथ के चतुर्थ परिच्छेद में अलंकारों का विवेचन है। इनके द्वारा वर्णित शब्दालंकारों की संख्या चार और अर्थालंकारों की संख्या 35 है।

18 आचार्य वाग्भट द्वितीय – वाग्भट द्वितीय का समय 13वीं शती का उत्तरार्द्ध मान्य किया गया है। इन्होंने 'काव्यानुशासन' ग्रंथ का सृजन किया था। 'काव्यानुशासन' पाँच अध्यायों में विभक्त रचना

है। इस कृति के तृतीय अध्याय में 64 अर्थालंकार और चतुर्थ अध्याय में 6 शब्दालंकार वर्णित हैं। वाग्भट द्वितीय ने 'अन्य' और 'अपर' नाम के दो नवीन अलंकारों को मान्यता दी है।

19 आचार्य विद्याधर– 14वीं शती के आचार्य विद्याधर की प्रसिद्ध रचना 'एकावली' साहित्यशास्त्र का महत्वपूर्ण एवं विवेचनात्मक ग्रंथ है। एकावली में आठ उन्मेष हैं। इसके सप्तम और अष्टम उन्मेष में अलंकारों का वर्गीकरण किया गया है।

20 आचार्य अप्पय दीक्षित– संस्कृत के काव्यशास्त्री, दार्शनिक और व्याख्याकार अप्पय दीक्षित का समय 17वीं शताब्दी माना गया है। दीक्षित कृत 'कुवलयानंद' अलंकारविषयक अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। इसमें 124 अलंकारों का वर्णन किया गया है। अप्पय दीक्षित उपमा को अलंकारों का 'शिरोरत्न' कहते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अलंकारवादी आचार्यों के मतानुसार अलंकार व्यापक अर्थ का द्योतक है। अलंकार केवल एक प्रकार का नहीं अपितु काव्य–सौन्दर्य के उत्पादक सभी प्रकार के साधनों का वाचक है। अलंकारवादी आचार्य अलंकार को काव्य का प्राण–तत्व मानते थे। ध्वनिकाल के आचार्यों ने अलंकार स्वरुप विवेचन पर विशेष बल दिया तथा अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। ध्वनिकाल से ही अलंकार को काव्य के बाह्य शोभाकर साधन मानने की परंपरा का आरंभ हुआ। अलंकार अब काव्य का अनिवार्य तत्व न रह कर शब्दार्थ की शोभा के माध्यम से रस का उपकारक बन गया और वह भी नित्य रुप में नहीं। मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्यलक्षण में प्रयुक्त 'अनलंकृति पुनः क्वापि' कथन इसी का द्योतक है। अलंकारों को काव्य का सर्वस्व माननेवाली परंपरा प्रायः यहीं विलीन हो जाती है। परवर्ती आचार्यों ने भी अलंकार विवेचन किया है। रुय्यक का 'अलंकारसर्वस्व' तथा अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानंद' दोनों ही अलंकार निरूपण के प्रौढ़ ग्रंथ हैं। अलंकारों के सूक्ष्म एवं स्पष्ट ज्ञान के लिए इनका महत्व आज भी मान्य है। जयदेव का

'चन्द्रालोक' सम्पूर्ण काव्यशास्त्र विवेचन का अनुठा संग्रह है। शिशुओं को अलंकार रटाने के लिए आज भी इस को महत्व दिया जाता है।

अलंकारों की संख्या

वाक्–तत्व में निहित, वाणी विलास की ज्यों–ज्यों सूक्ष्म विवेचना होती गयी, काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में अलंकारों की संख्या त्यों–त्यों बढ़ती चली गयी। पिछले आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकारों को अमान्य भी ठहराया जाता रहा, फिर भी, नये अलंकारों के समावेश से संख्या में वृद्धि होती रही। आचार्यों के अनुसार मान्य अलंकारों की संख्या इस प्रकार है –

आचार्य		अलंकारों की संख्या
भरत	–	04,
भामह	–	38,
दण्डी	–	39,
उद्‌भट	–	38,
वामन	–	32,
रुद्रट	–	66,
मम्मट	–	61,
रुय्यक	–	81,
भोज	–	72,
जयदेव	–	70
विश्वनाथ	–	85,
हेमचन्द्र	–	35,
जगन्नाथ	–	70 और
अप्पय दीक्षित	–	124.

अलंकारों का वर्गीकरण

सामान्यतः कथन–भंगिमाओं को ही अलंकार नाम से अभिहित किया जाता है। कथन–भंगिमाएँ अनन्त हैं, अतः अलंकारों की संख्या

भी अन्तिम रूप से निश्चित नहीं की जा सकती। भेदों की अनन्तता में कहीं–न–कहीं, किसी–न–किसी अन्य अलंकार से साम्य बना रहता है। उक्ति वैचित्र्य की विभिन्नता होने पर भी कुछ अलंकारों की मूल प्रवृत्तियाँ ऐसी होती हैं, जिनके आधार पर उनके कुछ वर्ग बनाए जा सकते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का वर्गीकरण निम्नानुसार किया जा सकता है–

संस्कृत में अलंकारों का वर्गीकरण–

अलंकारों के वर्गीकरण का इतिहास से ज्ञात होता है कि संस्कृत के आरंभिक आचार्यों ने अलंकारों का स्पष्टतः वर्गीकरण नहीं किया है, किन्तु भामह, दण्डी और वामन आदि आचार्यों ने शब्दालंकार और अर्थालंकार दो भेद किया है। भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा में अलंकारो का सर्वप्रथम वर्गीकरण करने का श्रेय आचार्य उद्‌भट को प्राप्त है। उन्होंने 'काव्यालंकार–सारसंग्रह' में अलंकारों को छः वर्गों में विभाजित किया है। किन्तु इसमें वैज्ञानिकता का अभाव है। डॉ0 विजेन्द्र स्नातक ने उद्‌भट के वर्गीकरण का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है– ''भामह के समय में अलंकार विषयक चार विभिन्न विचारधाराओं का प्रचलन था। भामह और उद्‌भट के बीच में दो अन्य वर्ग–मान्यताओं का उद्‌भव हुआ। इस प्रकार उद्‌भट का वर्गीकरण वैज्ञानिक दृष्टि से भले ही उपयोगी न हो, इसको तत्कालीन अलंकार–सम्प्रदायों का व्यापक चित्र अवश्य माना जा सकता है।''[29] अलंकारों का वर्गीकरण करने वालों में प्रमुख नाम आचार्य रुद्रट हैं। उन्होंने अलंकारों के मूल तत्वों को चार वर्गों में विभाजित किया। आचार्य रुद्रट की अपेक्षा आचार्य रुय्यक का अलंकार वर्गीकरण अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक है। उसके उपरान्त विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ तक आते–आते अलंकारों का वर्गीकरण काफी व्यवस्थित हो गया। सर्वमान्य रूप से अलंकारों के तीन वर्ग माने गये हैं और वे ही काफी प्रचलित हुए।

1. शब्दालंकार– जहाँ शब्दों के कारण चमत्कार हो, अर्थात् शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रखने पर यदि चमत्कार

नष्ट हो जाय तो वहाँ शब्दालंकार होता है। उदाहरणार्थ 'भगवान भक्तो की भयंकर भूरि भीति भगाइये' में 'भ' वर्ण प्रयुक्त होने से सुन्दरता बढ़ गई है। यदि 'भ' के स्थान पर कोई अन्य वर्ण प्रयुक्त किया जाए तो सुन्दरता घट जाएगी। यहाँ पर यह उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है कि छंद शास्त्र के सदृश्य अलंकार शास्त्र में भी वर्ण से अभिप्राय व्यंजन वर्णों से ही लिया जाता है। ''शब्दालंकार के मुख्य सात भेद हैं– अनुप्रास (छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, अंत्यानुप्रास, श्रुत्यानुप्रास, लाटानुप्रास), यमक, श्लेष (सभंगश्लेष, अभंगश्लेष), वक्रोक्ति (काकुवक्रोक्ति, श्लेष वक्रोक्ति), पुनरुक्ति–प्रकाश (वीप्सा) और पुनरुक्तवदाभास।''[30]

2. अर्थालंकार– जहाँ अर्थ में चमत्कार पाया जाय, अर्थात् शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रखने पर यदि चमत्कार नष्ट न हो तो वहाँ अर्थालंकार होता है। अर्थालंकार में सौन्दर्य अर्थगत होता है, शब्दगत नहीं। उदाहरणार्थ 'सुमनों–सी मुस्कान तुम्हारी' में 'सुमनों' के स्थान पर पुष्पों या फूलों को रख देने से अलंकार और अर्थगत सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। ''अर्थालंकारों का वर्गीकरण संस्कृत–आचार्यों में एक विवाद का विषय रहा है।''[31] अर्थालंकार की संख्या शताधिक है। अर्थालंकार के भेद निम्न हैं–

1. उपमा– पूर्णोपमा, लुप्तोपमा, मालोपमा, उपमेयोपमा, प्रतिवस्तुपमा, रतोपमा; 2. रूपक– (क) अभेद रूपक– सांग रूपक, निरंग रूपक, परंपरित रूपक; (ख) तद्रूप रूपक; 3. उत्प्रेक्षा– वस्तुत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, गम्योत्प्रेक्षा या प्रतीयमान; 4. अपह्नुति– शुद्धापह्नुति, हेतुअपह्नुति, पर्यस्तापह्नुति, छेकापह्नुति, कैतवापह्नुति, भ्रांतापह्नुति; 5. दीपक– कारक दीपक, आवृत्ति दीपक, देहली दीपक और माला दीपक; 6. व्यतिरेक; 7. स्मरण; 8. भ्रांतिमान; 9. प्रतीक; 10. तुल्ययोगिता – प्रथमा, द्वितीया, तृतीया; 11. सहोक्ति; 12. दृष्टान्त; 13. उदाहरण; 14. काव्यलिंग; 15. अर्थान्तरन्यास – विषेष, सामान्य; 16 निदर्षना; 17. अतिशयोक्ति– संबंधा, असंबंधा, अक्रमा, चपला, भेदका, अत्यन्ता, रूपका; 18. समासोक्ति;

19. अन्योक्ति; 20. स्वाभोक्ति; 21. विरोधाभास; 22. असंगति; 23. विशेषोक्ति; 24. विभावना; 25. व्याजस्तुति; 26. उल्लेख; 27. परिकर; 28. परिकरांकुर; 29. तद्‌गुण; 30. अतद्‌गुण; 31. मीलित; 32. पूर्वरूप; 33. उन्मीलित; 34. सामान्यक; 35. विशेषक; 36. परिसंख्या; 37. यथासंख्य; 38. मुद्रा; 39. अनन्वय; 40. विनोक्ति; 41. प्रहेलिका; 42. प्रत्यनीक; 43. लेष; 44. मानवीकरण; 45. विषेषण विपर्यय; 46. अत्युक्ति – शौर्यात्युक्ति, औदार्यात्युक्ति।

3. उभयालंकार– जहाँ कवि की उक्ति में शब्दालंकार और अर्थालंकार इस प्रकार घुले–मिले हों कि पृथक न हो सकें, अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों के कारण चमत्कार उत्पन्न हो, वहाँ उभयालंकार होता है। उभयालंकार में शब्दांकार और अर्थालंकार दोनों की अवस्थिति अनिवार्य नहीं है। ''इसमें कम–से–कम दो अलंकार रहते हैं। वह दो शब्दालंकार अथवा दो अर्थालंकार या दोनों हो सकते हैं। उदारणार्थ– 'सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह, छाँह–सी अम्बर पथ से चली।' उक्त पंक्ति में 'छाँह–सी' में उभयालंकार है, तो 'नीरवता के कंधे पर' और 'अम्बर पथ' में रूपक अलंकार है।''[32] इसके दो भेद–संकर और संसृष्टि हैं।

संस्कृताचार्यों के वर्गीकरणों का उल्लेख करना समीचीन है। इस संदर्भ में भामह कृत अलंकार लक्षण द्रष्टव्य है–

वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकारान कल्पतेः। –काव्यालंकार, 5/66

अर्थात् शब्द और अर्थ की वक्रतापूर्ण उक्ति वाणी को अलंकार कहा जाता है। इसी प्रकार दण्डी और वामन ने भी शब्दगत और अर्थगत दो भेदों का निरूपण अप्रत्यक्ष रूप में किया था। किन्तु स्पष्ट विविध अलंकारों को वर्गीकृत करके विवेचन करने की परंपरा का आरंभ रुद्रट कृत 'काव्यालंकार' से होता है। आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम 'काव्यालंकार' के द्वितीय अध्याय में पाँच शब्दालंकारों– वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्रालंकार का उल्लेख किया

है –

'' वक्ररेक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दास्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्युस्तु ।।
–काव्यालंकार

इसके पश्चात् उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय, श्लेष को अर्थालंकार और अन्य सभी को इन्हीं के भेद माने हैं –

''अर्थास्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिषयः श्लेष।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः।।'' –काव्यालंकार

आचार्य रुद्रट के अलंकार वर्गीकरण इस प्रकार है–

शब्दालंकार – वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र।

अर्थालंकार –

(1) वास्तव के भेद – सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, लेष, अवसर, मीलित और एकावली।

(2) औपम्य के भेद – उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थांतरन्यास, उभयन्यास, भ्रांतिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टांत, पूर्व सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण।

(3) अतिशय के भेद – पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु।

(4) अर्थ श्लेष के भेद – अविशेष, विरोध, वक्रश्लेष, व्याजश्लेष, उक्तिश्लेष, असंभव श्लेष, अवयव श्लेष, तत्व श्लेष, विरोधाभास, अलंकार–सांकर्य।''[33]

''भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का व्यवस्थित और वैज्ञानिक वर्गीकरण करने वाले आचार्य रुय्यक हैं। आचार्य रुय्यक ने अलंकारों को दो भेद और उनके अनेक भेदों में वर्गीकरण किया था। उन्होंने

अलंकारों को कुल सात वर्गों में बाटने का प्रयास किया। इनके अलंकार वर्गीकरण को निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है–

(क) शब्दालंकार

पौनरुक्त वर्ग– (1) अर्थ पौनरुक्त, (2) व्यंजन पौनरुक्त, (3) स्वर व्यंजन पौनरुक्त, (4) शब्दार्थोंभ्य पौनरुक्त, (5) सीानविशेष पौनरुक्त।

(ख) अर्थालंकार

(1) सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग

(अ) भेदोभेदतुल्यतामूलक– उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण।

(आ) अभेद प्रधानमूलक– 1. आरोप मूलक– रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रांतिमान, उल्लेख और अपह्नुति।

2. अध्यवसाय मूलक– उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

(इ) गम्यमान औपम्य – तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तुपमा, दृष्टांत, निदर्षना।

(ई) भेद प्राधान्य मूलक – व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति।

(2) विशेषण विच्छिति (वैचित्र्य)

1. विशेषण साम्य – समासोक्ति, परिकर।

2. विशेष्य साम्य – श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थांतरन्यास।

(3) गम्यतार्थ विच्छित्ति – पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप।

(4) विरोध मूलक –विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष।

(5) श्रृखंलामूलक अलंकार – कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

(6) न्याय मूलक अलंकार – (क) तर्क न्याय मूलक– काव्यलिंग, अनुमान।

(ख) वाक्य न्याय मूलक– समुच्चय, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति,

परिसंख्या, अर्थापत्ति, समाधि, विकल्प।

(7) गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक अलंकार – सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वाभावोक्ति, भाविक, उदात्त।

(8) चित्रवृत्ति स्वरूप अलंकार – रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित।

(9) चित्रवृत्ति स्वरूप अलंकारों से पृथक अलंकार – भावोदय, भावसंधि, भाव सबलता।

(10) मिश्र अलंकार – संसृष्टि, संकर।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य विद्यानाथ का अलंकार वर्गीकरण, नवीन है, जो निम्नानुसार है–

(1) साधर्म्य मूलक–

(क) अभेद प्रधान –रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रांतिमान, उल्लेख तथा अपह्नुति।

(ख) भेद प्रधान– दीपक, तुल्ययोगिता, निदर्षना, दृष्टांत, प्रतिवस्तुपमा, वक्रोक्ति, प्रतीप और व्यतिरेक।

(ग) भेदोभेद प्रधान – उपमा, अन्नवय, उपमेयोपमा और स्मरण।

(2) अध्यवसाय मूलक – उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति।

(3) विरोध मूलक –विभावना, विशेषोक्ति, विषम, चित्र, असंगति, अन्योन्य, व्याघात, अतद्गुण, भाविक, विशेष।

(4) वाक्य न्याय मूलक – यथासंख्या, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प और समुदाय।

(5) लोक व्यवहार मूलक– परिवृत्ति, प्रत्यनीक, तद्गुण, समाधि, सम स्वाभावोक्ति, उदात्त और विनोक्ति।

(6) तर्कन्याय मूलक – काव्यलिंग, अनुमान और अर्थान्तरन्यास।

(7) श्रृंखला वैचित्र्य मूलक – कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

(8) अपह्नव मूलक – व्याजोक्ति, वक्रोक्ति और मीलित।

(9) विशेषण वैचित्र्य मूलक – समासोक्ति और परिकर।''[34]

इस वर्गीकरण के आरंभ में विद्यानाथ ने शब्दालंकारों और अंत में मिश्र अलंकारों का विवेचन किया है। स्पष्ट है कि विद्यानाथ का अलंकार वर्गीकरण प्रकारातंर आचार्य रुय्यक की ही अनुकृति है। अतः भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य रुय्यक का अलंकार वर्गीकरण सर्वाधिक वैज्ञानिक है।

हिन्दी में अलंकारों का वर्गीकरण

हिन्दी साहित्य में भी अलंकारों के वर्गीकरण का प्रयास हिन्दी के आचार्यों द्वारा किया गया है। इन आचार्यों में मुख्यतः केशवदास, भिखारीदास, कन्हैयालाल पोद्दार, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', डॉ0 नगेन्द्र और डॉ0 वचनदेव कुमार का नाम उल्लेखनीय है। वस्तुतः इन आचार्यों का अलंकार वर्गीकरण संस्कृत के आचार्यों के अलंकार वर्गीकरण का अनुकरण मात्र प्रतीत होता है तथा नूतनता और वैज्ञानिकता का सर्वथा अभाव होने से ग्राह्य नहीं हो सकता।

अलंकार का महत्व

यह सही है कि काव्य का मुख्य उद्देश्य भाव–संप्रेषण है, लेकिन यह भाव–संप्रेषण रुचिकर एवं प्रभावशाली होना चाहिए। साधारण बात भी यदि रुचिकर एवं आकर्षक ढ़ंग से कही जाए, तो चिरस्थायी प्रभाव छोड़ती है। यही कारण है कि अलंकार सिद्धान्त का खण्डन करने वाले आचार्य भी अलंकारों के महत्व को स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत जी अलंकारों के महत्व को रेखांकित करते हुए कहते हैं– ''अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं है, यह भाव की अभिव्यक्ति के लिए विशेष द्वार है''। अलंकारों के प्रयोग से कवि अपने भावों को बड़ी सरलता से प्रकट कर सकता है। काव्य–सौन्दर्य बढ़ जाने से कविता अधिक प्रभावशाली होती है। अलंकारो से कविता का सौन्दर्य बढ़ जाता है।

अलंकार के व्युत्पत्ति–लभ्य से भी पता चलता है कि काव्य को या सौन्दर्य को पूर्णता प्रदान करने वाला तत्व अलंकार है। अलंकार केवल काव्य का अलंकरण ही नहीं करता, बल्कि रस, भावादि को भी पूर्णता प्रदान करता है। कविता में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रुप से होना चाहिए। प्रयास करके अनावश्यक रूप से अलंकारों का प्रयोग नहीं करना चाहिए अन्यथा कविता प्रभावी बनने के स्थान पर प्रभावहीन एवं दोषपूर्ण बन जाएगी।

काव्य में अलंकार का स्थान

अलंकार काव्य के लिए बहुत उपयोगी है। अलंकारों की सहायता से काव्य की रोचकता बढ़ जाती है। वह आकर्षक और साथ ही प्रभावशाली हो जाता है। अलंकारों से वर्ण्य विषय को स्पष्ट और सुबोध बनाने में भी सहायता मिलती है। इस प्रकार अलंकारों की उपयोगिता और उनका प्रयोग वांछनीय है। यह बात नहीं कि अलंकारों के बिना काव्य नहीं बन सकता, बन सकता है, और अच्छा बन सकता है, पर यह विशेष प्रतिभाशाली कवि के लिए ही संभव है। अलंकार भाषा के महत्वपूर्ण अंग हैं। अलंकरण की ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। सौन्दर्य की ओर उसका खिंचाव जन्म से लेकर अन्त तक बना रहता है। कविता में अभिव्यंजना अत्यधिक महत्वपूर्ण है। कवि जब–जब अपनी कविता में अपनी अनुभूतियों को सशक्त अभिव्यक्ति देना चाहता है, तब उसे अलंकारों की आवयश्कता होती है। साधारण लोग भी अपनी बात को प्रभावशाली बनाने के लिए अलंकारों का अनायास ही प्रयोग करते हैं। कवि अपनी विशिष्ट अनुभूति के क्षणों को काव्यबद्ध करता है, तब अलंकारों की भाषा अनायास ही सजी हुई हो जाती है। अलंकारों का काव्य में उपयोग जितना ही सहज होगा, काव्य की श्रेष्ठता उतनी ही असंदिग्ध होगी। पर साथ ही यह भी ध्यान रहे कि अलंकार काव्य के लिए तभी उपयोगी होते हैं जब उनका प्रयोग सुरुचि के साथ किया जाए और उनकी 'अति' न की जाए। अलंकार साधन है, साध्य नहीं। जब वे

साधन के स्थान पर साध्य बन जाते हैं, तब काव्य की शोभा बढ़ाने के स्थान पर उनका ह्रास ही करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ –

1. डॉ. सुरेश अग्रवाल, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली–6, नवीन संस्करण 1992, पृष्ठ – 232।
2. साहित्यशास्त्र (भारतीय एवं पाश्चात्य) इकाई 13: अलंकार का सिद्धान्त, पीडीएफ से पृष्ठ – 65।
3. डॉ. सुरेश अग्रवाल, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली–6, नवीन संस्करण 1992, पृष्ठ – 233।
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, काव्याँग कौमुदी, नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स, 1987, पृष्ठ – 30।
5. नरोत्तमदास स्वामी, अलंकार–पारिजात, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशक, अस्पताल मार्ग आगरा–3, 1957, पृष्ठ – 01।
6. केशवदास – कविप्रिया, मातृभाषा मंदिर मालवीय नगर प्रयाग, प्रथम प्रकाशन 1866, पृष्ठ – 05।
7. चिन्तामणी, कविकुल कल्पतरु, द्वितीय प्रकाशन, पृष्ठ – 01।
8. गोविन्ददास, दूष्णोल्लास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्रथम संस्करण, 1965, पृष्ठ – 137।
9. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रस मीमांसा, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, प्रथम संस्करण 1949।
10. साहित्यशास्त्र (भारतीय एवं पाश्चात्य) इकाई 13: अलंकार का सिद्धान्त, पीडीएफ से पृष्ठ – 70।
11. डॉ. सुरेश अग्रवाल, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली–6, नवीन संस्करण 1992, पृष्ठ – 237।

12. वही पृष्ठ– 238।
13. काव्यशास्त्र और साहित्यालोचन, (अनटाइल्ड) महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय रोहतक, वर्ष–2004।
14. के. एल. ढिगरा, भारतीय काव्यशास्त्र (रिसर्च मटेरियल) आलेख से, पृष्ठ –16।
15. विकीपीडिया, अलंकार सिद्धान्त और उसके प्रमुख आचार्य नामक आलेख से।
16. साहित्यशास्त्र (भारतीय एवं पाश्चात्य) इकाई 13: अलंकार का सिद्धान्त, पीडीएफ से पृष्ठ – 65।
17. विकीपीडिया, अलंकार सिद्धान्त और उसके प्रमुख आचार्य नामक आलेख से।
18. काव्यशास्त्र और साहित्यालोचन (अनटाइल्ड), महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय रोहतक, वर्ष–2004।
19. डॉ. सुरेश अग्रवाल, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली–6, नवीन संस्करण 1992, पृष्ठ – 235।
20. ई ज्ञानकोष, भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय : अलंकार–सिद्धान्त, नामक लेख से।
21. डॉ. सुरेश अग्रवाल, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली–6, नवीन संस्करण 1992, पृष्ठ – 235।
22. ई ज्ञानकोष, भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय : अलंकार–सिद्धान्त, नामक लेख से।
23. डॉ. सुरेश अग्रवाल, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली–6, नवीन संस्करण 1992, पृष्ठ – 236।

24. साहित्यशास्त्र (भारतीय एवं पाश्चात्य) इकाई 13: अलंकार का सिद्धान्त, पीडीएफ से पृष्ठ – 65।
25. संस्कृत साहित्य का इतिहास नामक लेख से।
26. डॉ. सुरेश अग्रवाल, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली–6, नवीन संस्करण 1992, पृष्ठ – 236।
27. साहित्यशास्त्र (भारतीय एवं पाश्चात्य) इकाई 13: अलंकार का सिद्धान्त, पीडीएफ से पृष्ठ – 65।
28. डॉ. सुरेश अग्रवाल, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली–6, नवीन संस्करण 1992, पृष्ठ – 236।
29. काव्यशास्त्र और साहित्यालोचन (अनटाइल्ड), महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय रोहतक, वर्ष–2004।
30. नरोत्तमदास स्वामी, अलंकार–पारिजात, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशक, अस्पताल मार्ग आगरा–3, 1957, पृष्ठ – 04।
31. ई ज्ञानकोष, भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय : अलंकार–सिद्धान्त, नामक लेख से।
32. डॉ. दुर्गाशंकर मिश्र, रस, छंद, अलंकार, विश्वभारती प्रकाशन, धनवटे चेम्बर्स, सीताबर्डी, नागपुर–12, पृष्ठ – 76।
33. साहित्यशास्त्र (भारतीय एवं पाश्चात्य) इकाई 13: अलंकार का सिद्धान्त, पीडीएफ से पृष्ठ–65।
34. साहित्यशास्त्र (भारतीय एवं पाश्चात्य) इकाई 13: अलंकार का सिद्धान्त, पीडीएफ से पृष्ठ–65।

■■

(9)
रीति सिद्धान्त

डॉ. जयती बिस्वास

ऐसी रचना जो पाठक, श्रोता या दर्शक को आनंदित करने के साथ–साथ उनके मन में उदात्त भावना का संचार करे तथा जिसके माध्यम से वह योग्य–अयोग्य, स्वार्थ–परमार्थ, ग्राह्य–अग्राह्य जैसे अंतर को समझने की क्षमता विकसित कर सके, वे सभी मौखिक व लिखित रचनाएँ साहित्य की श्रेणी में आते हैं। विद्वानों ने साहित्य संबंधी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए इसे समाज के आगे चलने वाला मसाल कहा है। इस मसाल के माध्यम से समाज के गुण व दोष दोनों ही दृष्टिगत होते है। जिससे गुण को ग्रहण और दोषों का त्याग कर जीवन को सुखी बनाया जा सकता है। विद्वानों ने साहित्य शब्द में सहभाव, हित का भाव निहित होना बताया है।

सातवीं–आठवीं शताब्दी से 'साहित्य' शब्द का प्रयोग मिलता है, इसके पूर्व 'साहित्य' शब्द के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः परिभाषाओं के माध्यम से काव्य अथवा साहित्य को समझा जा सकता है– ''आचार्य भामह (छठी–सातवीं सदी) ने अपने काव्यालंकार में लिखा है– शब्द और अर्थ मिलकर काव्य (साहित्य) होता है। दंडी के विचार से, ''इष्ट अर्थ से विभूषित शब्द समूह ही काव्य शरीर है।''

* जन्म तिथि एवं स्थान : 25 अगस्त 1970, खैरागढ़, माता : श्रीमती ललिता श्रीवास्तव, पिता : श्री सियाराम श्रीवास्तव, पति : श्री उत्पल बिस्वास, योग्यता : एम ए (हिन्दी), एम. फिल, पी–एच. डी., नेट, सेट, बी. एड., डी. एड, संप्रति : सहायक प्रध्यापक (हिन्दी), विरांगना अवंती बाई शासकीय महाविद्यालय, छुईखदान, मो. : 9424130323, ई–मेल jaytibiswas25@gmail.com

आचार्य विश्वनाथ ने रसयुक्त वाक्य को काव्य कहा है। पंडित राज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की परिभाषा इन शब्दों में की है, ''जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान–दशा कहलाती है। उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है। उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं।'' पाश्चात्य विद्वानों में वर्ड्सवर्थ ने कविता को इन शब्दों में परिभाषित किया है, ''कविता शांति के क्षणों में स्मरण किए हुए प्रबल मनोवेगों का सहज उद्रेक है।'' कॉलरिज कहते हैं, ''उत्तम शब्दों की उत्तम रचना–विन्यास को कविता कहते है''

इन परिभाषाओं से यह बात स्पष्ट होती है कि कविता या साहित्य ऐसी कृति है शब्द और अर्थ के समन्वय से रसयुक्त वाक्य की; जो साहित्यकारों द्वारा रची जाती है, जिनके माध्यम से सहृदय आनंद प्राप्त करते हैं, शांति की अनुभूति करते हैं तथा आत्मा को मुक्त कर ज्ञान प्राप्त कर सत्कर्म की ओर उन्मुख होते हैं। इसी तरह की प्रेरणादायी रचना को साहित्य कहा जा सकता है।

साहित्य के आधारभूत तत्व के रूप में भाव, कल्पना, बुद्धि तथा भाषा शैली को स्थान प्राप्त है। भाव मानव हृदय में व्याप्त सहज मनोवेग है, जिसकी मदद से कवि अपने काव्य में प्रभाव उत्पन्न करते हैं तथा वे एक श्रेष्ठ काव्य की रचना कर पाते हैं। कल्पना तत्व के माध्यम से कवि अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करते हैं। कल्पना ही वह तत्व है, जिसके माध्यम से वह अतीत की सुन्दर झाँकी और भविष्य की अपेक्षाओं के साथ वर्तमान वातावरण में समन्वय स्थापित कर कवि कर्म को सार्थकता प्रदान करती है। साहित्य में बुद्धि के अंतर्गत विचार, तथ्य एवं सिद्धांत अंतर्निहित हैं। विद्वानों का मत है कि कोरी भावना और कोरी कल्पना से उत्तम साहित्य की रचना नहीं हो

सकती, अतः साहित्य में बुद्धि तत्व का समावेश अत्यंत आवश्यक है। डॉ. राज किशोर सिंह कहते हैं, ''कल्पना भाव को पुष्ट करती है, उसकी नई–नई सामग्री जुटाती है, नए–नए चित्र उपस्थित कर भाव एवं कला दोनों को बल देती है। कल्पना का संबंध मानसिक सृष्टि से है, बुद्धि तत्व कल्पना को उच्छृंखल बनने से रोकता है और भावों को उदात्त बनाता है।''

प्रत्येक साहित्यकार की अपनी शैली होती है। साहित्यकार अपने भावों विचारों और कल्पनाओं की अभिव्यक्ति के लिए भाषा, शब्द, छन्द, अलंकार आदि का समावेश करते हैं। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने भाव, कल्पना तथा बुद्धि तत्व को काव्य के प्राण तथा शैली तत्व को उसका शरीर कहा है। ''जैसे बिना शरीर के प्राण टिक नहीं सकते वैसे ही बिना भाषा–शैली आदि के साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता।''

भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों ने इस तरह साहित्य के तत्वों की व्याख्या की है। साथ ही साहित्य के आधारभूत तत्व और गुणों पर विद्वानों ने चिंतन किया है। कोई रचना कब साहित्य कहला सकता है और किस तत्व के अभाव में किसी रचना को साहित्य नहीं कहा जा सकता, इस विषय को लेकर आदि काल से आज तक अनेक अनुसंधान किए गए हैं। किन्तु एक मत होकर किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके कि 'काव्य की आत्मा' के रूप में किसे प्रतिष्ठित किया जाए। अलग–अलग निष्कर्षों के आधार पर भारतीय काव्यशास्त्र में छः सम्प्रदाय या वादों की स्थापना हुई है, जो निम्नलिखित हैं–

1. रस सम्प्रदाय – भरतमुनि,
2. अलंकार संप्रदाय – भामह, उद्‌भट तथा रूद्रट,
3. रीति संप्रदाय – दण्डी तथा वामन,
4. वक्रोक्ति संप्रदाय – कुन्तक,

5. ध्वनि संप्रदाय — आनंदवर्धन,

6. औचित्य संप्रदाय — आचार्य क्षेमेन्द्र।

'रीति' के पर्यायवाची शब्दों में ढंग, शैली, प्रकार, मार्ग, प्रणाली, पंथ, वीथि, वृत्ति, गति, संघटना, प्रस्थान, पद्धति आदि अनेक शब्द शामिल हैं। आचार्य बल्देव प्रसाद उपाध्याय रीति को परिभाषित करते हुए कहते हैं, ''अपने मनोगत भावों की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न लेखक नवीन तथा विशिष्ट मार्गों का अवलंबन लिया करते हैं। कई बार अर्थ तो एक ही होता है, उसके द्योतक शब्द तथा वाक्य का विन्यास भिन्न–भिन्न कवियों तथा लेखकों के हाथ में भिन्न–भिन्न हो जाता है। इसी विशिष्ट लिखने के ढंग को 'शैली' या 'रीति' के नाम से पुकारते हैं। प्रत्येक लेखक की अपनी खास शैली होती है, जिसमें वह लिखा करता है, चाहे वह थोड़ा लिखे या बहुत। इसीलिए जितने कवि हैं, उतनी रीतियाँ हैं। जितने लेखक हैं उतनी शैलियाँ हैं।''

भोज देव ने रीति की उत्पत्ति इस प्रकार बताई है, ''रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्या रीति रूच्यते।'' अर्थात रीति शब्द रीङ धातु में क्विन प्रत्यय के योग से बना है।'' भारतीय काव्य शास्त्र में रीति का प्रयोग दो अर्थों में होता है– एक काव्य रचना की सामान्य–पद्धति, शैली तथा दूसरा संस्कृत में एक संप्रदाय विशेष के अर्थ में। वह संप्रदाय है– आचार्य वामन (9वीं सदी) द्वारा प्रवर्तित रीति संप्रदाय।

आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानकर रीति को ही सर्वाधिक महत्व दिया है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार – सूत्र' में रीति का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है कि विशिष्ट पद रचना रीति अर्थात् विशेष प्रकार की शब्द रचना ही रीति है। आचार्य वामन के पहले आचार्य भरतमुनि ने अपने ग्रंथ 'नाट्य–शास्त्र' में 'रीति' से मिलते–जुलते शब्द 'प्रवृत्ति' का उल्लेख किया है। लेखिका डॉ. ऊषा शुक्ल रीति और प्रवृत्ति में अर्थ स्पष्ट करती हुई कहती हैं, ''रीति का

अर्थ भाषा–प्रयोग तथा प्रवृत्ति का अर्थ जीवनचर्या या रहन–सहन का ढंग। प्रत्येक देश के रहन–सहन और आचार–विचार में एक–दूसरे से थोड़ा–बहुत अंतर होता है। अतः इसी आधार पर भरत ने प्रवृत्ति के चार भेद किए हैं।''

1. आवन्ती – भारत के पश्चिम भाग की प्रवृत्ति,
2. दाक्षिणात्य – दक्षिण भारत की प्रवृत्ति,
3. औड्रमागधी – उड़ीसा तथा मगध की प्रवृत्ति,
4. पांचाली – मध्यप्रदेश की प्रवृत्ति।

बाणभट्ट– आचार्य भरतमुनि के बाद 'कादम्बरी' के रचयिता बाणभट्ट ने संपूर्ण भारतवर्ष में विद्यमान साहित्यिक विशेषताओं के आधार पर चार प्रमुख शैलियों का उल्लेख किया है।

1. ''उदीच्य – अर्थात् उत्तर भारत के लोग प्रायः श्लेष का प्रयोग करते हैं।

2. प्रातीच्य– अर्थात् पश्चिम भारत के लोग अर्थ गौरव को महत्व देते हैं।

3. दाक्षिणात्य – दक्षिण भारत के कवि उत्प्रेक्षा प्रेमी हैं।

4. गौड़ी – पूर्व भारत के कवि जन अक्षराडम्बर पर मुग्ध हैं।''

भामह – भामह के समय प्रचलित दो काव्य भेद मिलते हैं, जिन्हें लोग वैदर्भी और गौड़ी कहते थे। वैदर्भी को श्रेष्ठ तथा गौड़ी को निकृष्ट मानते थे। भामह ने काव्य के सामान्य गुणों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं, ''अलंकृति, अग्राम्यता, अर्थ सौन्दर्य आदि गुण जिस काव्य में हो, वह सत्काव्य है। वैदर्भी और गौड़ी अपने आप में सत्काव्य नहीं है। उपर्युक्त गुण समान रूप से वैदर्भी और गौड़ी दोनों को सुशोभित कर सकते हैं।'' भामह ने मात्र काव्य भेद के रूप में इन्हीं दो भेदों वैदर्भी व गौड़ी शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने न तो रीति शब्द का प्रयोग किया है, न मार्ग का।

दण्डी– भामह के बाद दण्डी ने रीति के लिए मार्ग शब्द का उल्लेख किया है। दण्डी के रीति विषयक सिद्धांत को लेखिका उषा शुक्ल ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, ''दण्डी के अनुसार रीति में व्यक्ति–तत्व की प्रधानता है। प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट रीति होती है। कवि अनेक हैं, अतएव रीतियों की संख्या भी अनेक हैं। किन्तु दण्डी ने अपने समय के कवियों और काव्य रसिकों में प्रसिद्ध हो चुकी दो मार्गों वैदर्भी और गौड़ी में स्पष्ट अंतर मानते हुए पृथक–पृथक विवेचन किया है।'' बाणभट्ट ने, जिसका संकेत मात्र किया था, दण्डी ने उसे नियम बद्ध कर दिया। दण्डी के अनुसार वैदर्भी मार्ग के दस गुण हैं– ''1. श्लेष, 2. प्रसाद, 3. समता, 4. माधुर्य, 5. सुकुमारता, 6. अर्थ–व्यक्ति, 7. उदारता, 8. ओज, 9. कांति, 10. समाधि।''. इन गुणों के विपरीत गुणों को दण्डी ने गौड़ी कहा है, ''प्रसाद का विपर्यय क्लिष्ट, कान्ति का अस्वाभाविकता, सुकुमारता का विपर्यय श्रुति कटु मार्गो का प्रयोग, आदि गुणों के विपर्यय नहीं है क्योंकि ये सभी काव्य की परिधि के भीतर नहीं है। काव्य की परिधि के भीतर उन्होंने प्रसाद का विपर्यय व्युत्पन्न (शास्त्र ज्ञान पर आधारित) कांति का विपर्यय अत्युक्ति और सौकुमार्य का विपर्यय दीप्ति को माना है। अर्थ–व्यक्ति औदार्य और समाधि के विपर्यय उन्होंने दिए ही नहीं हैं, क्योंकि ये वैदर्भी और गौड़ी दोनों में समान रूप से आवश्यक मान लिए गए हैं।''

वामन– आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए कहा है, 'रीतिरात्मा काव्यस्य' और आगे अपनी बात कहते हैं, 'विशिष्ट पद रचना रीतिः' अर्थात पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है। 'विशिष्ट' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'विशेषों गुणात्मा' अर्थात काव्य में विशिष्टता गुणों से आती है। गुणात्मक पद ही रीति है। वामन ने ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि को काव्य गुण कहा है। उन्होंने कहा है कि गुण काव्य के नित्य धर्म हैं। इनकी अनुपस्थिति में काव्य का अस्तित्व असंभव है। वे गुणों को काव्य का

शोभाकारक धर्म मानते हुए कहते हैं कि ''काव्य शोभायाः कर्त्तारौ धर्माः गुणाः।'' आचार्य वामन ने शब्दगत और अर्थगत सौन्दर्य से संपन्न पद–योजना को रीति कहा है। वे कहते हैं, ''वे सारे तत्व' जिससे कि काव्य–सौन्दर्य की सृष्टि होती है, गुणों के अंतर्गत आ जाते हैं। उन्होंने गुणों को स्थायी तत्व घोषित करते हुए कहा है, 'जहाँ काव्य है, वहाँ गुण अवश्य है; जहाँ गुण नहीं, वहाँ काव्य भी नहीं।''

आचार्य वामन ने भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित 10 गुणों को ही शब्दगत और अर्थगत मानकर द्विगुणित कर दिया है। ये निम्नांकित हैं–

शब्दगत –

1. ओजगुण – ''गाढ़ बन्धत्व भोजः' अर्थात रचना की गाढ़ता या गाढ़बन्धत्व 'ओज गुण' कहलाता है। दण्डी ने इसके संबंध में लिखा है, ''जब वाक्यों में समासयुक्त पदों की बहुलता होती है, तो ओज गुण का उदय होता है।'' इसमें कठोर व उत्तेजक वर्णों का प्रयोग होता है। रसवादी आचार्यों ने ओज गुण का संबंध वीर, रौद्र, वीभत्स आदि रसों में स्थापित किया है। आचार्य वामन ने अर्थ की प्रौढ़ता को ओज गुण कहा है।

2. प्रसादगुण – 'शौथिल्यं प्रसादः' अर्थात रचना की शिथिलता ही प्रसाद गुण है। जिस पदावली को सुनते ही अर्थ की प्रतीती हो जाए, वहाँ प्रसाद गुण माना जाता है। इसका संबंध शब्दों के सरल व सुबोध रूप के प्रयोग से माना जाता है। जैसे, चन्द्रमा शब्द के लिए चन्द्र, इन्दु आदि। प्रसाद गुण केवल पद रचना तक ही सीमित न होकर, कथा की सरलता को आदि से अंत तक व्याप्त कर सकता है।

3. श्लेष गुण – श्लेष से अभिप्राय यहाँ अलंकार विशेष नहीं अपितु, श्लिष्ट गुंफित पदावली से है। रचना में वाक्य, पद, छन्द या प्रबंध आदि में शैथिल्य दोष का अभाव श्लेष गुण समझना चाहिए। शैली का यह सामान्य गुण है।

4. समतागुण– वर्ण विन्यास में मध्यमार्ग का अवलंब वैदर्भी रीति में समता गुण लाता है। यह पद रचना का बाह्य गुण है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि शैली की एकरूपता ही समता गुण है।

5. समाधि गुण– शैली में उतार–चढ़ाव ही समाधि है। किसी–किसी विद्वानों ने इसे 'समादि' गुण भी कहा है। आचार्य दण्डी ने इस गुण को काव्य का सर्वस्य कहा है तथा इसे समग्र कवि समुदाय अपनाता है।

6. माधुर्य गुण– माधुर्य गुण से अभिप्राय सरस पदावली से है। वे शब्दगत और अर्थगत दोनों ही होते हैं। शब्दगत माधुर्य से अभिप्राय श्रुत्यानुप्रास आदि से युक्त सौम्य अर्थों के द्योतक शब्द प्रयोग से है। आचार्य वामन ने कल्पना पूर्ण उक्ति वैचित्र्य को माधुर्य गुण माना है। रसवादी आचार्यों ने माधुर्य गुण का संबंध करूण, श्रृंगार आदि कोमल रसों से स्थापित किया है।

7. सौकुमार्य गुण– कठोरता का अभाव ही सौकुमार्य गुण है। ऐसा आचार्य गण मानते हैं।

8. उदारता गुण– इसे औदार्यगुण के नाम से भी जाना जाता है। इसका अभिप्राय अर्थ–गौरव से है। यह शैली का एक महत्वपूर्ण गुण है।

9. अर्थ–अभिव्यक्ति गुण– वह गुण, जिससे अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है, अर्थ–अभिव्यक्ति गुण कहलाता है। इसके लिए सरल, सहज, सार्थक व आवश्यक शब्दों के चयन की आवश्यकता होती है, जिससे वाक्य या पद–रचना अर्थ की पूर्णता प्राप्त कर सके।

10. कांति गुण – आचार्य गण रचना–शैली की उज्ज्वलता या नवीनता का नाम कांति गुण मानते हैं। आचार्य दण्डी ने काव्य में स्वाभाविक लोक–सम्मत अर्थों की द्योतक सामान्य गुण को ही कांति गुण कहा है।

अर्थगुण–

शब्द–गुण की भाँति अर्थ–गुण भी संख्या में दस माने गए हैं तथा नाम में भी कोई अंतर नहीं है। डॉ. गणपति चन्द्रगुप्त का विचार है कि ''जहाँ शब्द गुणों में रचना के प्रगाढ़ बंधन को ओज कहा गया है, वहाँ अर्थ गुणों में अर्थ की प्रौढ़ता को ओज गुण माना गया है– 'अर्थस्य प्रौढ़िरोजः'। इसी प्रकार अर्थ की विमलता को प्रसाद, समाधि, उक्ति–वैचित्र्य को माधुर्य, अर्थ की स्पष्टता को अर्थ–व्यक्ति तथा रस की दीप्ति को कांति–गुण कहते हैं। 'कहना न होगा कि शब्द–गुणों की ही भाँति अर्थ गुणों में भी अनेक अस्पष्ट और असंगत है, फिर भी यह विचित्र–सा है कि अर्थ गुणों में कोई साम्य न होते हुए उन्हें, वे ही नाम दिए गए हैं, जो शब्द गुणों के लिए निर्धारित थे।''

रीति–दोष–

साहित्यकारों के लिए जितना आवश्यक गुणों की जानकारी रखना है, उतना ही आवश्यक दोषों को जानना भी है। डॉ. गणपति चन्द्र कहते हैं, ''रीति का दूसरा महत्वपूर्ण आधार दोष है। जब तक कोई भी रचना दोष शून्य नहीं होगी, तब तक उसमें गुणों का समन्वय भी सौन्दर्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकेगा।'' आचार्य वामन के अनुसार दोष की परिभाषा है– 'गुण विपर्ययात्मानो दोषः' अर्थात् गुण के विपर्यय का नाम दोष है, या यों कहिए कि जो गुण का उल्टा है, वही दोष है।'' आचार्य वामन 'दोष' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, 'दोष उन तत्वों को कहते हैं, जो काव्य सौन्दर्य में घातक हैं, काव्य सौन्दर्य को नष्ट करते हैं। वामन की दृष्टि में सौन्दर्य वस्तुगत है, इसलिए दोष भी वस्तुगत ही है। वे बाह्यरूप की विकृतियाँ मात्र हैं, आंतरिक चित्तवृत्ति का उद्वेग नहीं है।'' मम्मट कहते हैं, ''दोष वह है, जिससे मुख्य अर्थ की हानि हो।'' आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि ''रस के अपकर्षक दोष कहलाते हैं– 'दोषाः तस्य अपकर्षकाः'। इस प्रकार, जो रस का अपकर्षण या हानि करे, वह दोष है। रस की हानि

तीन प्रकार से हो सकती है– विलंब से, अवरोध से और रस प्रतीती को नष्ट कर।''

आचार्य वामन ने 4 दोषों को निरूपित किया है, जिनमें पद–दोष, पदार्थ–दोष, वाक्य–दोष तथा वाक्यार्थ दोष शामिल हैं। इन दोषों के अंतर्गत वर्गीकृत दोषों की कुल संख्या 20 मानी गई है, जो निम्नांकित हैं–

1. पद–दोष (पांच) –

1. असाधु (व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग),
2. कष्ट (कर्ण कटु शब्द),
3. ग्राम्य,
4. अप्रतीत (अप्रचलित पारिभाषिक शब्द),
5. अनर्थक (निरर्थक)।

2. पदार्थ–दोष (पांच) –

1. अन्यार्थ – जहाँ शब्द का भिन्न अर्थ में प्रयोग हो, जैसे विस्मरण का स्मरण के अर्थ में प्रयोग,
2. नेयार्थ– (कल्पित) जिसका अर्थ कल्पना से लगाना पड़ता है,
3. गूढ़ार्थ– अप्रसिद्ध अर्थ,
4. अश्लील,
5. क्लिष्ट – जहां अर्थ अत्यन्त दूरारूढ़ हो।

3. वाक्य–दोष (तीन) –

1. भिन्न वृत्ति,
2. यति भ्रष्ट,
3. विसंधि।

4. वाक्यार्थ–दोष (सात) –

1. व्यर्थ – पूर्वापर विरोधी,
2. एकार्थ – जिसमें एक ही अर्थ की आवृत्ति हो,

3. संदिग्ध,

4. प्रयुक्त – जहाँ सर्वथा काल्पनिक अथवा भ्रांतिपूर्ण अर्थ का आरोप हो,

5. अपक्रम – जहाँ अर्थ में क्रम न हो,

6. अलोक – जिसका अर्थ देश, काल और प्रवृत्ति के विरूद्ध हो,

7. विद्या–विरूद्ध – जिसका अर्थ कला और शास्त्र के मान्य सिद्धांतो के विरूद्ध हो।

आचार्य वामन ने इस प्रकार रीति के आधारभूत तत्वों के रूप में गुण (शब्दगुण, अर्थगुण) तथा दोष का विवेचन किया है। उनकी यह विवेचना महत्वपूर्ण, तर्कसंगत तथा स्पष्ट है। आचार्य वामन ने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली तीन प्रमुख रीतियाँ मानी है–

वैदर्भी रीति–

विदर्भ देश के कवियों द्वारा इस पद्धति का अधिक प्रयोग किए जाने के कारण इस रीति का नाम वैदर्भी रखा गया है। इसे ही कुन्तक ने सुकुमार मार्ग तथा वामन और मम्मट ने इसे उपनागरिका भी कहा है। आचार्य वामन ने 'समग्र गुणा वैदर्भी अर्थात समस्त गुणों वाली रीति कहा है। उनके अनुसार, ''सभी गुणों से विभूषित, काव्यदोष की मात्राओं से हीन, वीणा के स्वर सदृश रीति है'' –

''अस्पष्टता दोषमात्राभिः समग्रगुण गुम्फिता।
विपञ्ची स्वर सौभाग्या वैदर्भी रीति रिष्यते।''

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, ''माधुर्य व्यंजक वर्णों से युक्त तथा समास रहित या छोटे समास वाली ललित रचना को वैदर्भी कहते हैं।

माधुर्य व्यंजक वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृति अल्पवृतिर्वा वैदर्भी रिष्यते।''

वैदर्भी रीति काव्य में सर्वाधिक प्रशंसित रीति है। किसी–किसी आचार्य का मानना है कि वैदर्भी के बिना काव्य की कल्पना व्यर्थ है।

दण्डी इसे प्राणभूत (दस गुण), राजशेखर इसे कर्ण प्रिय गुण का प्रवाह मानते हैं। साहित्य में भी यह गुण रीतियों की तुलना में समादृत है।

गौड़ी–रीति–

आचार्य वामन ने गौड़ी रीति को ओज और कांति गुणों से युक्त बताया है– 'ओज : कांतिमयी गौड़ीया।'' आचार्य विश्वनाथ ''ओज अर्थात तेज को प्रकाश में लाने वाले वर्णों से युक्त बहुत–से समास और आडम्बरों से बोझिल उत्कट रचना को गौड़ी कहते हैं– ''ओजः प्रकाशक वर्णेबधः आडम्बर पुनः। समास बहुला गौड़ी।''

प्रायः सभी आचार्यों ने गौड़ी रीति को ओजपूर्ण वर्णों से युक्त कहा है, जिससे रचना में शौर्य भावना का आविर्भाव होता है। इन्होंने पदयोजना को दीर्घ समासयुक्त होना बताया है। इस रीति के माध्यम से वीर, रौद्र तथा वीभत्स रसों की अभिव्यक्ति होती है तथा माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का अभाव होता है।

पांचाली रीति –

इस रीति का उल्लेख आचार्य भामह एवं दण्डी ने नहीं किया है। प्रथम उल्लेख आचार्य वामन ने किया है। उन्होंने कहा है कि, ''यह माधुर्य और सुकुमारता से संपन्न रीति और अगठित, भावाशिथिल छायायुक्त (कांति रहित) मधुर और सुकुमार गुणों से युक्त होती है।'' आचार्य विश्वनाथ के अनुसार पांचाली रीति का लक्षण इस प्रकार है, ''वर्णे शेषैः पुनर्द्वयोः। समस्त पञ्चषदों बन्धः पाञ्चालिका मता''। अर्थात् यह पांच–छः समास युक्त पदों की बन्धवाली रचना होती है। काव्यप्रकाश के रचनाकार इसे कोमलावृत्ति कहते हैं– 'कोमल परैरिति'। उद्भट इसे ग्राम्या–वृत्ति कहते हैं। आनंदवर्धन इसे 'मध्यम समास से युक्त पांचाली वृत्ति' कहते हैं तथा भोज ओज एवं कांति समन्वित पदों की मधुर सुकुमार रचना को पांचाली कहते हैं।''

वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली रीतियों का भौगोलिक प्रदेशों से कोई

रिश्ता नहीं है। आचार्य वामन स्वयं कहते हैं, ''यह बात नहीं है कि (रीतियों का देश–विशेष से संबंध हो) देश–विदेश से द्रव्य–गुण या काव्य–गुणों की उत्पत्ति नहीं होती है और न ही इस कारण रीतियों के नाम देशों के नाम पर रखे गए हैं, अपितु जिन–जिन देशों के लोगों ने जिस–जिस प्रकार की रचना–शैलियों का आविष्कार किया है, उन्हीं के आधार पर इनका नामकरण किया गया है। फिर देशों का काव्य–शैलियों से सीधा कोई संबंध भी नहीं है।''

अतः यह बात स्पष्ट है कि रीतियों का वर्गीकरण विद्वानों ने क्षेत्रीय या प्रादेशिक आधार पर नहीं किया है। अपितु किसी भी कवि के द्वारा उनकी पद रचना में कोई भी रीति समाहित हो सकती है। डॉ0 तारकनाथ बाली कहते हैं, ''गुणों के उल्लेख से यह नहीं समझना चाहिए कि आरंभ में कवि गौड़ी या पांचाली रीति में रचना करता है तथा रचना के अभ्यास के कारण धीरे–धीरे वह वैदर्भी रीति में रचना करने लगता है। वैदर्भी रीति इन तीनों में से उत्तम है तथा प्रौढ़ कवि, चाहे वे किसी भी प्रदेश के क्यों न हो, वैदर्भी रीति में ही रचना करते हैं।''

रीति और पाश्चात्य शैली

भारतीय काव्य शास्त्र में जिस तरह रीति का उल्लेख मिलता है, वैसे ही पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी शैली की विवेचना होती रही है। ''प्रसिद्ध ग्रीक आचार्य प्लेटो ने शैली के तीन भेद किए थे– 1. सहज, सरल, 2. विचित्र, 3. मिश्र। अरस्तु ने शैली के दो गुण बताए हैं– स्पष्टता और औचित्य। रोमन विद्वान सिसरो ने शैली के आधारभूत तत्वों के अंतर्गत चार गुणों की गणना की है– 1. उपयुक्त शब्द–चयन, 2. स्पष्टता, 3. सामंजस्यपूर्ण पद रचना, 4. वर्ण गुम्फन अर्थात् स्वर व व्यंजनों की मधुर योजना। डयोनिसियस ने तीन प्रमुख गुणों– शुद्धता, स्पष्टता और समास तथा अनेक गौण–गुणों– सजीवता, उदात्तता, गरिमा, शक्ति, शोभा आदि का आख्यान करते हुए तीन भेद किए हैं– कठिनोदात्त, मसृण या सज्जित और मिश्र। क्विन्टीलियन

ने भारतीय आचार्यों की भाँति शैलियों का वर्गीकरण भौगोलिक आधार पर किया है– एंटिक, एशियाटिक और रहोडियन। पं. बलदेव प्रसाद उपाध्याय ने तीनों को क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली के समकक्ष रखा है।''

इस प्रकार प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों ने 'रीति' का विवेचन किया है। रीति और शैली में कहीं–न–कहीं समानताएँ और असमानताएँ पहले भी लोग देखते थे तथा वर्तमान साहित्यकारों ने भी रीति और शैली की समानताओं के बावजूद पर्याप्त अंतर देखा है। ''उन्नसवीं शताब्दी में वर्ड्सवर्थ तथा अन्य स्वच्छन्दतावादी साहित्यकारों ने सहज–स्वाभाविक शैली के पक्ष में प्रचार किया तथा चेष्टापूर्वक प्रयुक्त शैली को साहित्य के लिए अनुपयुक्त सिद्ध किया। दूसरी ओर क्रोचे के अभिव्यंजनावाद ने भी सहज–स्वाभाविक अभिव्यंजना को ही काव्य के लिए वांछनीय सिद्ध किया। वस्तुतः उनके विचार से तो शैली की पृथक सत्ता मानना अनुचित है। पेटर और रैले ने भी शैली का संबंध मस्तिष्क और आत्मा से बताते हुए उसे रचयिता के व्यक्तित्व का अविच्छेद्य अंग माना।''

साहित्य के वर्तमान परिदृश्य में शैली और रीति में निम्नांकित भेद मिलते हैं–

1. ''रीति के कुछ निश्चित भेद किए जा सकते हैं, जबकि शैली का कोई निश्चित रूप या भेद निर्धारित करना कठिन है।
2. रीति विषय–सापेक्ष है, जबकि शैली व्यक्ति–सापेक्ष।
3. रीति में पाठक या सामाजिक की दृष्टि से प्रमुखता प्राप्त है, जबकि शैली में कवि या रचयिता की दृष्टि को।
4. रीति के लिए अध्ययन, अभ्यास और प्रयत्न अपेक्षित है, जबकि शैली साहित्यकार के सहज–स्वाभाविक रूपों को सूचित करती है।
5. रीति परंपरा की प्रतीक है, जबकि शैली स्वच्छन्दता की।''

''लॉजाइनस का अभिमत है कि महान शैली 'आत्मा की महानता की प्रतिध्वनि' है। इसी दृष्टि से उन्होंने विवेचन और विश्लेषण किया है और शैली के पाँच प्रकार बताए हैं– 1. उदात्त विचार, 2. उदात्त भाव, 3. अलंकारों का समुचित प्रयोग, 4. भव्य भाषा, 5. गरिमामय रचना विधान। इनमें भव्य भाषा और गरिमामय रचना विधान का उल्लेख कुन्तक ने गुणों के विवेचन में किया है।''

काव्य–शास्त्र के आचार्यों ने रीति की वृत्ति, प्रवृत्ति, शैली व वक्रोक्ति गुण, अलंकार, रस, ध्वनि, औचित्य आदि में अंतर और अंतर्संबंध स्पष्ट किए हैं। अतः इन पर संक्षिप्त दृष्टि डालना अपेक्षित है।

रीति और वृति :– ''नाटक में वृत्ति का बहुत ही बड़ा महत्व है और वृत्तियाँ नाटक की माताएँ कही जाती हैं– वृत्तियों नाट्य मातरः।' ''वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति 'वृत' धातु में ति (क्विन) प्रत्यय के योग से होती है। वर्तन का अर्थ होता है– जीवन और वृत्ति उस जीवन को सहायता पहुँचाने वाली जीविका है। इसलिए वृत्ति का अर्थ हुआ पुरुषार्थ का साधक व्यापार अर्थात धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति में सहायता देने वाला व्यापार।'' ''काव्य शास्त्र में दो प्रकार की वृत्तियाँ प्रसिद्ध है– एक अर्थवृत्तियाँ या नाट्यवृत्तियाँ। इनके अंतर्गत भारती, सात्वती, कौशिकी और आरभटी का निरूपण किया गया है। इन्हें नाट्य की माता का पद दिया गया है– 'वृत्तयो नाट्य मातरः'। दूसरी, काव्यवृत्तियाँ या शब्दवृत्तियाँ हैं। इनके अंतर्गत उपनागरिका;' परूषा और कोमला नामक वृत्तियों की चर्चा की जाती है। रीतियों या शब्द वृत्तियों में पर्याप्त साम्य है।''

''वृत्तियों का विभाजन रचना के गुण पर है और रीतियों का वर्गीकरण देश या प्रान्त पर है तथा गुण संबंध होने पर भी बाह्य रूप की प्रधानता है। वृत्तियों का संबंध मानसिक पक्ष की ओर है।''

रीति और प्रवृति :– ''पृथ्व्यां नाना देश भाषा वार्ता ख्यापयति इति प्रवृतिः'' अर्थात् जो पृथ्वी के नानादेशों के वेश, भाषा तथा आचार

की वार्ता को व्यक्त करे, उसका नाम प्रवृत्ति है। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि भरतमुनि के अनुसार, प्रवृत्ति का संबंध केवल भाषा से ही न होकर, देश तथा आचार आदि से भी है। अतः स्वभावतः ही प्रवृत्ति की सीमा रीति की अपेक्षा अधिक व्यापक है। रीति का अर्थ है– पद रचना या भाषा प्रयोग, अर्थात् बोलने और लिखने का ढंग; जबकि भरत की प्रवृत्ति का अर्थ है– जीवनचर्या रहन–सहन का ढंग।''

रीति और शैली :– शैली अंग्रेजी के शब्द Style का हिन्दी रूपान्तर है। ''रीति शब्द संकुचित अर्थ में विशिष्ट पद रचना है और व्यापक अर्थ में वह आज की शैली के अर्थ को भी व्यक्त करती है। शैली शब्द शील शब्द से बना है। इस शब्द से कर्ता के स्वभाव, रूचि, प्रवृत्ति, चरित्र और मनोवृत्ति का पता चलता है। साहित्य–शास्त्र में शैली का अर्थ विशेष काव्य रचना या अभिव्यंजना पद्धति है।''

उत्तम शैली कवि की कृति को कलात्मकता प्रदान करती है, सौन्दर्य में वृद्धि करती है तथा प्रभावोत्पादकता प्रदान करती है। शैली ही काव्य में कला पक्ष और भाव पक्ष के बीच सामंजस्य स्थापित करती है। रीति का कार्य काव्य के अंगों में सामंजस्यपूर्ण औचित्य की स्थापना करना है। रीति काव्य के मार्मिक पक्ष को प्रेषित कर काव्य को कलात्मक बनाती है। वक्रोक्ति, अलंकार, शब्द–शक्तियाँ आदि उसमें सहयोग प्रदान करती हैं तथा गुण उसकी आत्मा है। गुणहीन रीति निष्प्रयोजन और निष्प्राण होती है।

रीति और वक्रोक्ति :– ''रीति काव्य के बाह्य रूप से विशेष संबंध रखती है, जबकि वक्रोक्ति अन्तरंग पक्ष से विशेष सम्बद्ध है। रीति सिद्धान्त में अप्रत्यक्ष रूप से (गुणों के अंतर्गत) रस की स्वीकृति है। वक्रोक्ति का रस ध्वनि से विशेष संबंध है।''

रीति और गुण :– गुण को रीति का नित्य धर्म माना गया है। आचार्य वामन के पहले के आचार्यों ने रीतियों को गुणाश्रित बताया है। वामन ने भी गुण को काव्य का शोभाकारक धर्म माना है। गुणहीन रीति निष्प्राण होती है। सरलता, स्पष्टता तथा विषय भावनुकूलता

रीति के अनिवार्य गुण हैं, जिनके अभाव में रीति नहीं बन सकती। शेष सभी गुण रीति की कलात्मक पूर्ति में सहायक हैं।

रीति और अलंकार :– आचार्य वामन अलंकार को काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्व मानते थे। वे कहते हैं– ''काव्य ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकार।'' इस प्रकार, वे अलंकारवादी न होते हुए भी उन्होंने अलंकार का महत्व स्वीकार किया। फिर भी वे काव्य के साथ अलंकार का नित्य संबंध न मानकर अनित्य संबंध मानते थे। ''वे (अलंकार) सौन्दर्य उत्पन्न नहीं कर सकते, अपितु सौन्दर्य में (यदि वह पहले से हो तो) केवल अभिवृद्धि कर सकते हैं। सौन्दर्य उत्पन्न करने की शक्ति तो गुण में है।'' अतः अलंकार रीति की कलात्मकता के लिए अत्यंत आवश्यक है। अलंकार से रीति की शोभा वृद्धि अंत तक होती है।

रीति और रस :– रीति और रस का संबंध आत्मा और शरीर की भाँति माना जाता है। जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर निष्प्राण है और शरीर के बिना आत्मा भी प्रकाशित नहीं हो पाती, वैसे ही रस के बिना रीति निष्प्राण है और रीति के बिना रस की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। रसानुभूति और रसाभिव्यक्ति के लिए रीति नितांत आवश्यक है।

रीति और ध्वनि :– ध्वनि का रीति से अटूट संबंध है। रीति में अर्थ गौरव ध्वनि से ही होता है। भाषा की लक्षणा व व्यंजना शक्ति रीति को शक्ति प्रदान करती हैं। ध्वनिवादियों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए इसके तीन भेद किए हैं– 1. वस्तु ध्वनि, 2. रस ध्वनि व 3. अलंकार ध्वनि। रीति का जो संबंध रस से है, रस का वहीं संबंध ध्वनि से है। जिस प्रकार काव्य की आत्मा को रस कहा जाता है, उसी प्रकार रस की आत्मा ध्वनि को कहा जाता है। अतः परोक्ष रूप से रीति और ध्वनि का अटूट संबंध है, जिसकी अनुभूति आत्मा से की जाती है।

रीति और औचित्य :– औचित्य काव्य की समस्त रचना प्रक्रिया का आवश्यक व अनिवार्य गुण माना जाता है। औचित्य मर्यादा को कहा जाता है। औचित्य उचित के भाव को कहते हैं। इसका कोई वैकल्पिक तत्व नहीं है। यह काव्य का सूक्ष्म गुण व धर्म है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग का औचित्य है और इससे ही शरीर का सौन्दर्य प्रकाशित होता है, उसी प्रकार काव्य के प्रत्येक तत्व में औचित्य की सौन्दर्यानुभूति निहित है। रीति भी काव्य का आवश्यक तत्व है। रीति और औचित्य का संबंध भी अटूट है। औचित्य न हो, तो रीति अपना प्रभाव प्रकट नहीं कर सकती। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के महत्व पर प्रकाश डालते हुए अपने विचार व्यक्त किए हैं कि रीति के प्रत्येक तत्व एवं प्रत्येक गुण में औचित्य की स्थिति रहती है। औचित्य है तो गुण, अन्यथा दोष।

रीति का महत्व

आचार्य वामन द्वारा प्रतिष्ठित रीति–संप्रदाय ने काव्य शास्त्र को एक नया काव्य चिन्तन प्रदान किया। यह अवश्य है कि रीति के पर्यायवाची शब्दों के रूप में पूर्ववर्ती आचार्यो ने काव्य में 'रीति' का संकेत दिया था, किन्तु रीति के वैशिष्ट्य को आचार्य वामन ने ही स्पष्ट किया है और उन्होंने रीति के महत्व को स्थापित करते हुए रीति को काव्य की आत्मा कहा। परवर्ती आचार्यों ने इसे आंशिक सत्य ही माना। रीति काव्य का एक महत्वपूर्ण अंग है, इस बात को भी हृदय से स्वीकारना होगा। रीति के महत्व को स्पष्ट करते हुए डॉ. राजकिशोर सिंह कहते हैं, ''जिस प्रकार ईश्वर की निर्माण शक्ति से निर्मित लावण्यवती नारी अनिवर्चनीय सौन्दर्य को प्राप्त कर सहृदय मानव के विलास और आकर्षण की वस्तु होती है, उसी प्रकार लोकोत्तर काव्य निर्माण कुशल कवि द्वारा निर्मित कविता सहृदय के हृदय में रस निष्पति कर उसे आनंद के सागर में निमग्न कर देती है। यह आनंद कवि की रीति या शैली पर विशेष निर्भर रहता है, क्योंकि कविता कामिनी का यह भव्य भवन रीति पर ही खड़ा होता

है।''

अतः यह बात स्पष्ट है कि रीति काव्य की आत्मा भले ही न हो, किन्तु रीति से काव्य का अटूट संबंध है। डॉ. नगेन्द्र रीति और काव्य के परस्पर संबंध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, ''वाणी के बिना अर्थ गूँगा है। शैली के अभाव में भाव उस कोकिल के समान असहाय है, जिसे विधाता ने हृदय की मिठास देकर भी रसना नहीं दी। इस दृष्टि से शैली तत्व की अनिवार्यता असंदिग्ध है और रीतिवाद ने उस पर बल देकर काव्यशास्त्र का निःसंदेह उपकार ही किया है।''

सन्दर्भ ग्रंथ :–

1. डॉ. उषा शुक्ल, भारतीय काव्य शास्त्र, कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल।
2. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य – सिद्धांत, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संशोधित संस्करण 2005।
3. डॉ. तारकनाथ बाली, भारतीय काव्य शास्त्र, वाणी प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010।
4. डॉ. राजकिशोर सिंह, भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धांत, प्रकाशन केन्द्र लखनऊ।

■■

(10)
काव्य–गुण, रीति एवं शैली

रमेश खैरवार

जिस प्रकार मनुष्य में उनके मानवीय गुण (वीरता, दया, करूणा, सच्चरित्रता आदि) विद्यमान होते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी गुण विद्यमान रहते हैं। गुण के प्रतिष्ठाता आचार्य वामन हैं। उन्होंने कहा है– ''काव्यशोभायाः कर्तारोधर्माः गुणाः। तदनिशय हेतवसत्वलंकाराः।। अर्थात् शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म को गुण कहा जाता है। वामन के अनुसार गुण काव्य की मूल शोभा (सौन्दर्य) के तत्व हैं। वस्तुतः काव्य की शोभा को संपादित करने वाला तत्त्व या विशेषता 'गुण' अथवा काव्य गुण है। आचार्य भरत मुनि के अनुसार, दोष का विपर्यय गुण है। नाट्य शास्त्र में इन्होंने काव्य में दस गुण स्वीकार किये हैं– ''श्लेषः प्रसादः समता समाधि, माधुर्यमोज पद सोकुमार्यम्। अर्थस्य च व्यक्तिरूदासरता च, कान्तिश्च काव्यस्य गुणाः दर्शते।।'' अर्थात् श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थ, व्यक्ति की उदारता, कान्ति आदि काव्य के दस गुणों को दर्शाते हैं। भरतमुनि के पश्चात् आचार्य भामह ने काव्य के 10 गुण, दण्डी ने 10 गुण, वामन ने 20 गुण, भोज ने 24 (जो बाह्य, अभ्यान्तर और वैशेषिक भेदों में 72 होते हैं), अग्निपुराण ने 18 गुण माना है। आचार्य

---

* जन्म : 15 जून 1989, माता : श्रीमती कमला खैरवार, पिता : श्री दाता राम खैरवार, योग्यता : एम. ए. हिन्दी, सेट, सम्प्रति : सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), शासकीय लरंग साय स्नातकोत्तर महाविद्यालय रामानुजगंज, मो. : 8770108942, E mail : rameshkumarkhairwar9@gmail.com

कुन्तक ने सिर्फ 2 गुण (औचित्य और सौभाग्य), आनन्दवर्द्धन ने 3 गुण– ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण को स्वीकार किया। आचार्य मम्ट ने 10 गुणों का खण्डन करके आनन्दवर्द्धन के 3 गुणों को ही सिद्ध किया। इसके बाद आचार्य विश्वनाथ ने स्वरचित साहित्यदर्पण में तथा पं. जगन्नाथ ने रस गंगाधर में उक्त 3 गुणों को स्वीकार किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गुण को रसाश्रित माना, जबकि डॉ. श्यामसुन्दर दास ने इसे शैली के अन्तर्गत स्वीकार किया।

काव्यगुण की परिभाषा

भरतमुनि– ''एत एव विपर्ययस्तता गुणः काव्येषु कीर्तितः।'' अर्थात् दोषों का विपर्यय (अभाव) गुण है तथा ये काव्य की कीर्ति को बढ़ाने वाले होते हैं।

वामन– "काव्यशोभायाः कर्तारोधर्माः गुणाः। तदनिशय हेतवसत्वलंकाराः।।" अर्थात् शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म को गुण कहा जाता है।

आचार्य मम्मट– ''येरहस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय रवात्मनः उत्कर्ष हेतेस्तवेस्युः अचल स्थितयोगुणाः।'' अर्थात् रस के अनिवार्य अंग, जो उसका उत्कर्ष करने वाले हैं, जैसे– शौर्य आदि आत्मा का उत्कर्ष करते हैं, गुण कहलाते हैं।

नगेन्द्र– दोषों के विपर्यय रूप गुण काव्य– शैली को सम्बद्ध करने वाले तत्त्व हैं, जो परम्परा–सम्बन्ध से रस के आश्रित रहते हैं।

काव्य गुण के भेद

मम्मट आदि ध्वन्याचार्यों ने केवल तीन गुण ही स्वीकार किया है।

1. माधुर्य गुण

माधुर्य से तात्पर्य है– शहद की तरह मीठा, श्रुति सुखदाता, समास रहितता, आर्द्रता, चित्त को द्रवित करने की विशेषता, भावमयता आह्लादकता आादि। काव्य का वह गुण, जो अन्तःकरण को आह्लादित कर दे, वह माधुर्य गुण है। आचार्य भरतमुनि ने माधुर्य का अर्थ श्रुति मधुरता माना, आचार्य दण्डी ने रसपूर्णता, वामन ने उक्तिवैचित्र्य तथा

मम्मट ने आह्लादकता एवं श्रृंगार रस से द्रवित करने की विशेषता को माधुर्य कहा है। कन्हैयालाल पोद्दार के अनुसार, ''जिस काव्य रचना से अंतःकरण आनन्द से द्रविभूत हो जाए, उसमें माधुर्य गुण होता है।'' आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में लिखा है, ''चित्त द्रवीभावमयोल्हादो माधुर्यमुच्यते''। माधुर्य गुण में क से म तक (ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर) प्रयोग में लाए जाते हैं; समास और संयुक्ताक्षर का अभाव रहता है; लघु र, ण का प्रयोग, मूर्धन्य वर्ण और अन्त्य वर्ण का प्रयोग विहित है।

उदाहरण–

पग घुँघरू बांधि मीरा नाची।
मैं तो मेरे नारायण सूं, आपहि हो गई साची।
लोग कहै, मीरा भइ बावरी; न्यातक है कुल–नासी।
विष का प्याला राणा भेज्या, पीवत मीरा हाँसी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सहज मिले अविनासी।

–मीरा के पद

वर दे वीणावादिनी! वरदे।
प्रिय स्वतंत्र–रव अमृत–मंत्र नव भारत में भर दे!

–निराला

2. ओजगुण

ओज से तात्पर्य है– तेज, प्रकाश, दीप्ति, जोश, आवेग इत्यादि। जिस प्रकार कोमलकान्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए माधुर्य गुण का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार कठोर, कर्कश भावों की अभिव्यक्ति के लिए ओज गुण का प्रयोग किया जाता है। दूसरे शब्दों में, ऐसी काव्य रचना जिसको पढ़ने से हृदय में तेज, उत्साह या वीरता का प्रवाह हो, ओज गुण है। वीभत्स तथा रौद्र रस में तो यह गुण पाया जाता है, इसके अतिरिक्त इस गुण को वीर रस की आत्मा माना गया है। कई विद्वानों ने इस संबंध में अपना मत प्रकट किया है। आचार्य

वामन के मत में रचना का गाढ़त्व ओज गुण है, ''गाढ़बन्धत्वमोज''। वामन के अनुसार, अक्षरों की संश्लिष्ट, समासयुक्तता, संयुक्ताक्षरों का प्रयोग ओज गुण के लिए आवश्यक है। दण्डी के अनुसार, समासयुक्त पदों की बहुलता से ओज गुण होता है। ओज गुण में ट वर्ग, रेफ का ज्यादा से ज्यादा प्रयोग, द्वित्त्व वर्णों का प्रयोग, कर्कश, क्लिष्ट वर्ण–संघटन इत्यादि का प्रयोग किया जाता है।

उदाहरण–

सिंहासन हिल उठे, राजवंशो ने भृकुटी तानी थी।
बूढ़े भारत में आई फिर से नयी जवानी थी।
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहचानी थी।
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।
चमक उठी सन सत्तावन में, वह तलवार पुरानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी।

–सुभद्रा कुमारी चौहान

हिमाद्रि–तुंग शृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला, स्वतंत्रता पुकारती।।

–जयशंकरप्रसाद

3. प्रसादगुण

'प्र' उपसर्ग तथा 'धञ्' प्रत्यय से मिलकर बना है– प्रसाद। इसका शाब्दिक अर्थ है– प्रसन्नता। ऐसी काव्य रचना, जिसके पठन एवं श्रवण से मन प्रसन्नता से खिल जाए, साथ ही उसका भाव, मर्म ग्रहण हो जाए, प्रसादगुण से युक्त माना जाता है। प्रसाद गुण के लिए स्वच्छता, सरलता और सहज ग्राह्यता अत्यन्त आवश्यक है।

विद्वानों के मत–

1. आचार्य वामन ने प्रसाद में शैथिल्य की विशेषता मानी है और इसे ओज गुण का विरोधी कहा है।

2. मम्मट के अनुसार, ''जैसे सूखे ईंधन में अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्र में जल तुरन्त फैल जाता है, उसी प्रकार चित्त को रस में और रचना में तुरन्त व्यक्त कर दे, वह प्रसाद गुण है।''

3. देवेन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार, जिस गुण से युक्त रचना अनायास हृदय में व्याप्त हो जाये, वह प्रसाद गुण कहलाता है। सरल, सहज, स्वच्छ शब्दावली का प्रयोग ही प्रसाद गुण का एक मात्र व्यंजक है।

उदाहरण–

संतो भाई आई ज्ञान की आँधी रे!
भ्रम की टाटी सबै उड़ाही, माया रहै न बाँधी रे।।

–कबीर

प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी।
जाकी अंग–अंग बास समानी।।

–रैदास

काव्य–रीति

रीति का शाब्दिक अर्थ है– रीयते गम्यतेऽनेनेति रीतिः। 'रीति' से तात्पर्य है– प्रणाली, पद्धति, शैली, मार्ग, पंथ, वीथि आदि। 'रीति' शब्द रीङ् धातु में 'क्तिन' प्रत्यय से बना है, जिसका मूल अर्थ होता है– 'मार्ग'। आचार्य वामन ने रीति सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने अपने काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में रीति को काव्य की आत्मा माना है। (रीतिरात्मा काव्यस्य) उनके अनुसार, 'पदों की रचना ही रीति है', ''विशिष्ट पद रचना रीतिः''। 'विशिष्ट' शब्द की व्याख्या करते हुए वामन ने कहा है कि पद–रचना की विशेषता अथवा उत्कर्ष गुणों पर निर्भर है– 'विशेषोगुणात्मा'। वामन से पूर्व दण्डी ने रीति और गुण को परस्पर सम्बंध कर एक मानने का प्रयत्न किया था। उन्होंने रीति के अन्तर्गत दस गुणों का महत्त्व स्वीकारा और इन दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण बताया– ''एतेवैदर्भमार्गस्य प्राणाः

दशगुणस्मृतः''। रीति का नामकरण अलग–अलग आचार्यों ने अलग–अलग किया है। आचार्य वामन ने 'रीति', आचार्य कुन्तक व दण्डी ने मार्ग, आचार्य मम्मट ने वृत्ति, आचार्य आनन्दवर्द्धन व आचार्य विश्वनाथ ने पद–संघटना, आचार्य राजशेखर ने वचन–विन्यास क्रम, आचार्य भरतमुनि ने वृत्ति (संकेत मात्र) आदि।

रीति के भेद

विभिन्न आचार्यों ने रीति का अलग–अलग भेद स्वीकार किया है। आचार्य भामह व दण्डी ने गौड़ी एवं वैदर्भी; आचार्य वामन ने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली; आचार्य रूद्रट ने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी; आचार्य कुन्तक ने रीति को मार्ग के रूप में ग्रहण कर उसका सम्बन्ध गुण और कवि–स्वभाव से स्थापित कर इसके तीन भेद किये हैं– सुकुमार, विचित्र और मध्यम। आचार्य राजशेखर ने वैदर्भी, गौड़ी एवं पांचाली तीन भेद स्वीकारा। भोज ने तीन रीतियों के साथ मागधी एवं अवंतिका रीति का भी उल्लेख किया है। शारदातनय ने सौराष्ट्रीय तथा द्राविड़ी दो रीतियों की चर्चा कर संख्या में न सिर्फ वृद्धि की, बल्कि इनकी संख्या 105 तक मानी।

आचार्य वामन ने तीन भेद स्वीकार किया है– 1. वैदर्भी, 2. गौड़ी और 3. पांचाली।

वैदर्भी रीति–

विदर्भ देश के कवियों ने इसका सर्वाधिक प्रयोग किया है, इसलिए इसका नाम वैदर्भी पड़ा। प्राचीन विदर्भ और आधुनिक बरार प्रांत किसी समय काव्य–सौन्दर्य एवं कला–विकास का प्रसिद्ध निकेतन हुआ करता था, जहाँ के कवियों ने काव्य के लिए एक ललित मार्ग का आधार ग्रहण किया था। यह वैदर्भी रीति समस्त दस शब्द गुण और दस अर्थ गुणों से युक्त होने के कारण सर्वगुण सम्पन्न व सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। 'यह दोषरहित, वीणा के स्वरों के समान मधुर और कुछ इस प्रकार की विशेषता से युक्त होती है जो कि शब्द

और अर्थ के चमत्कार से भिन्न है।'

वैदर्भी के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत–

वामन वैदर्भी को समग्र गुण वैदर्भी कहते हैं, तो दण्डी वैदर्भी के प्राणभूत दस गुण मानते हैं। पं. विश्वनाथ के अनुसार, माधुर्य व्यंजक वर्णों के द्वारा की हुई समासरहित अथवा छोटे–छोटे समासों से युक्त मनोहर रचना वैदर्भी है। इसका दूसरा नाम ललिता भी है।

रूद्रट के अनुसार, समासरहित अथवा छोटे–छोटे समासों से युक्त श्लेषादि दस गुणों से युक्त 'च' वर्ग की अधिकता से युक्त, अल्पप्राण अक्षरों से सुन्दर वृत्ति वैदर्भी है। सुकुमार एवं कोमल गुणों के कारण यह श्रृंगार, करूण और प्रेयस आदि रसों के लिए उपयुक्त मानी जाती है।

गौड़ी रीति–

गौड़ी (बंगाल) देश के कवियों द्वारा इसका प्रयोग करने से इसका नाम गौड़ी पड़ा। इस देश के कवि अलंकार युक्त, शब्दाडम्बर, संयुक्त तथा प्रगाढ़ता से काव्य सृजन करते थे। इसमें दो गुण– ओज और कांति होते हैं। इसमें मधुरता और सुकुमारता का अभाव होता है। इसमें समास का बहुत प्रयोग होता है तथा यह उग्र, कठोर पदों से युक्त होते हैं।

गौड़ी के सम्बन्ध में विभिन्न मत–

वामन के अनुसाार, ओज और कांति (दोनों) गुणों का प्राधान्य तथा समास की बहुलता गौड़ी रीति में होती है, जबकि मधुरता और सुकुमारता का इसमें अभाव रहता है। दण्डी के अनुसार, ''एषांविपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़ वर्त्मनि।'' अर्थात् वैदर्भी के विपरीत गुण गौड़ी में होते हैं। रूद्रट के अनुसार, दीर्घ समास वाली रचना जो रौद्र, भयानक, वीर आदि उग्र रसों के लिए उपयुक्त होती है, गौड़ी रीति है। आचार्य मम्मट के अनुसार, ''ओजः प्रकाश कैस्तैस्तु परूषः।''

पांचाली रीति–

इसमें दो गुण– माधुर्य और सुकुमारता होते हैं। यह अगठित, भाव शिथिल, छायायुक्त (कांति से शोभित), मधुर और सुकुमार होती है। मम्मट ने इसे कोमलवृत्ति कहा है, उद्‌भट ने ग्राम्यावृत्ति, आनन्दवर्द्धन ने मध्यम समास से युक्त पांचालीवृत्ति कहा है।

पांचाली रीति की प्रमुख परिभाषाएँ–

आचार्य वामन के अनुसार, माधुर्य और सुकुमारता से सम्पन्न रीति और अगठित भावशिथिल, छायायुक्त (कांति रहित), मधुर और सुकुमार गुणों से युक्त रीति पांचाली है। आचार्य रूद्रट के अनुसार, लघु समास वाली रीति पांचाली है। राजशेखर के अनुसार, पांचाली रीति स्वल्पानुप्रास एवं उपचारवृत्ति से युक्त होती है। पं. विश्वनाथ के अनुसार, पाँच–छः समासयुक्त पदों की बंधवाली रचना पांचाली है। पांचाली मध्यमा रीति है।

अन्य रीतियाँ– 1. लाटी रीति, 2. मैथिली रीति, 3. मागधी रीति।

सन्दर्भ –

1. भारतीय व पाश्चात्य काव्य शास्त्र तथा हिन्दी आलोचना, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ. सं. 71, 72.
2. हिन्दी साहित्य, डॉ. विवेक शंकर, पृ. सं. 465.

■■

(11)
वक्रोक्ति सिद्धांत की अवधारणा एवं भेद

डॉ. कुसुम माधुरी टोप्पो

वक्रोक्ति का अर्थ है– वह उक्ति, जिसमें वक्रता हो। वक्रोक्ति, दो शब्दों से बना है– वक्र और उक्ति। इसका शाब्दिक अर्थ है– ऐसी उक्ति जो सामान्य से अलग हो, टेढ़ापन, असामान्य, विचित्र आदि या टेढ़ा कथन अथवा जिसमें लक्षणा शब्द शक्ति हो। वक्रोक्ति के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने वक्रता का अर्थ प्रसिद्ध कथन से भिन्न अर्थात् असामान्य या विचित्र ही किया है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अनुसार काव्य का सौन्दर्य उक्ति की विशेषता व विचित्रता में है तथा ऐसी उक्ति ही काव्य की आत्मा है। इसी दृष्टिकोण को लेकर आचार्य कुन्तक ने लगभग दसवीं शताब्दी में अपने नये मत की स्थापना करते हुए 'वक्रोक्ति जीवितम' की रचना की। कुन्तक ने वक्रोक्ति को एक सम्पूर्ण सिद्धान्त के रूप में विकसित कर काव्य के समस्त अंगों को इसमें समाविष्ट कर लिया, इसीलिए कुन्तक को वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है।

वक्रोक्ति की अवधारणा

वक्रोक्ति का उदय दसवीं शताब्दी में कुन्तक के द्वारा ही हुआ, किंतु इससे पूर्व भी उसका जन्म एवं विकास हो चुका था। अलंकार

---

* जन्म तिथि : 20.09.1975, पति : डॉ. किशोर मिंज, योग्यता : एम. ए., एम. फिल., पी–एच. डी., नेट, सम्प्रति : सहायक प्रध्यापक (हिन्दी), नवीन शासकीय महाविद्यालय कांसाबेल, जिला – जशपुर, मो0नं0 : 9131556935, मेल आई डी : kusummadhuri953@gmail.com

शास्त्र का इतिहास जितना पुराना है, उतना वक्रोक्ति का है। भामह ने अपने काव्यालंकार में वक्रोक्ति को अत्यन्त व्यापक रूप में प्रस्तुत करते हुए इसे सभी अलंकारों की जननी माना है। वक्रोक्ति के अभाव में वे अलंकारों का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते हैं। उन्होंने वक्रोक्ति का मूल अलंकार अर्थ और शब्द को माना है। वामन ने वक्रोक्ति को उपमा प्रपंच के अन्तर्गत अर्थालंकार माना है, किंतु दण्डी ने वक्रोक्ति को सर्वालंकार मूल कहा है। वामन के परवर्ती रूदट ने उक्ति – प्रत्युक्ति में वक्रोक्ति अलंकार के मत को स्वीकारा है।

वक्रोक्ति सिद्धांत की आवधारणागत परम्परा का क्रमिक विकास की श्रृंखला कई विद्वानों के विचारों से चलती रही है। मम्मट और विश्वनाथ की वक्रोक्ति को अर्थालंकार के रूप मानते हैं। इन्हीं के अर्थ को मानते हुए हिन्दी के आचार्यों में केशव, जसवन्तसिंह, मतिराम और भूषण आदि ने भी अर्थालंकार ही माना है। वक्रोक्ति सिद्धान्त के आचार्यों ने आधारभूत विचार रखा, किन्तु वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक ने वाणभट्ट के वाक्छल क्रीड़ालाप परिहास जनित चमत्कारपूर्ण शैली वचन विदग्धता आदि वक्रोक्ति शब्द के अर्थों की पृष्ठभूमि में वक्रोक्ति का 'वैदग्ध भंगी भणिति' कहा है। वैदग्ध का अर्थ– ''निपुण कवि के काव्य निमार्ण करने का कौशल, भंगी का अर्थ– विच्छिति चमत्कार, चारूता, शोभा आदि तथा भणिति का अर्थ– वर्णन शैली है। इस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य निमार्ण की अपूर्व कुशलता से लोकोत्तर चमत्कार प्राण विचित्र कथन माना है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि 'विचित्रैवामिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते'। आगे उन्होंने विचित्र शब्द का तीन अर्थों में स्पष्ट किया –

(क) शास्त्र आदि में प्रसिद्ध शब्द अर्थ के साधारण प्रयोग में भिन्न प्रयोग विचित्र कथन।

(ख) शब्दार्थ प्रयोग के प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न कथन।

(ग) सामान्य व्यवहार मे प्रयुक्त शब्द अर्थ के प्रयोग से भिन्न

कथन।

इन तीनों ही अर्थों का सारांश यह है कि कुन्तक का ''विचित्र से अभिप्राय शास्त्र तथा लोक व्यवहार मे प्रयुक्त होने वाले शब्द अर्थ की रचना से विलक्षण शब्दार्थ की उक्ति विचित्रोक्ति अर्थात वक्रोक्ति है।'' कुन्तक के सम्पूर्ण विवेचन का सार यही निकलता है कि उनकी वक्रोक्ति चमत्कारपूर्ण है। वह चमत्कार उत्पन्न करने के कारण ही वक्र–उक्ति है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया है, किंतु उनके इस मत को परवर्ती काल में स्वीकार नहीं किया गया है। काव्यशास्त्रियों ने तो वक्रोक्ति को केवल अलंकार माना है। कुन्तक ही ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने वक्रोक्ति को व्यापक रूप में देखा। उन्होंने ध्वनि, रीति आदि को भी अपनी वक्रोक्ति में समेटने का प्रयास किया है।

वक्रोक्ति के भेद

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने वर्ण–विन्यास से लेकर प्रबन्ध कल्पना तक काव्य के सभी अंगों का विस्तार मे वर्णन किया है। कुन्तक ने वक्रोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है–

''उभावेतावलड़ार्यो तयोः पुनरलंकृति। वक्रोक्तिरेव वैदग्धभंगी – भंणितिरूच्यते।।''

अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों अलंकार्य होते हैं तथा विदग्धतापूर्ण कथन रूपी वक्रोक्ति ही उन दोनों का अलंकार होती है। कुन्तक ने सौंदर्य को ही अलंकार का व्यापक रूप बताया है। वक्रोक्ति का न केवल शब्द से, न अर्थ से, अपितु दोनों का ही सम्बंध सिद्ध किया गया है। आचार्य कुन्तक ने वैचित्र्य के आधार पर वक्रोक्ति के अनेक भेद माना है। किन्तु मुख्यतः छः भेद ही माना गया है–

(1) वर्ण विन्यास वक्रता,

(2) पद–पूर्वार्द्ध वक्रता,

(3) पद–परार्द्ध वक्रता,

(4) वाक्य वक्रता,

(5) प्रकरण वक्रता और

(6) प्रबन्ध वक्रता।

1. वर्ण विन्यास वक्रता– रचना में वर्णों का विशेष प्रकार के प्रयोग का अध्ययन वर्ण विन्यास वक्रता के अंतर्गत आता है। कुन्तक ने कहा है कि जिसमें एक या दो या बहुत–से वर्ण थोड़े–थोड़े अन्तर में बार–बार प्रयोग होते हैं, वही वर्ण विन्यास वक्रता कहलाती है। जैसा कि वर्ण से तात्पर्य व्यंजन से होता है, इस व्यंजन की आकृति अलंकार से, सम्प्रदाय के शब्दों के शब्दालंकार मे अनुप्रास, यमक, उपनागरिका आदि वृतियों में माधुर्य आदि गुणों का समावेश होता है। वस्तुतः इसमें माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण भी समन्वय की दृष्टि से प्रतीत होते हैं।

2. पद पूर्वार्द्ध वक्रता– इसके अन्तर्गत शब्द के आरम्भ में उत्पन्न वक्रता या मूल धातु से संबंधित वक्रता, जो शब्द विशेष के प्रयोग वैचि़त्र्य समाविष्ट होता है, वही पद पूर्वार्द्ध वक्रता कहलाती है। इसे प्रकृति वक्रता भी कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं – (1) रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता, (2) पर्याय वक्रता, (3) उपचार वक्रता, (4) विशेषण वक्रता, (5) संवृति वक्रता, (6) वृति वक्रता, (7) लिंग वैचित्र्य वक्रता, (8) क्रिया वैचित्र्य वक्रता, (9) भाव वैचि़त्रय वक्रता, (10) प्रत्यय वक्रता।

(1) रूढि वैचित्र्य वक्रता– जहां कवि अपनी प्रतिभा के आधार पर किसी शब्द के रूढ़ या वाच्य अर्थ को परिवर्तित करता हो, जिससे उक्ति में सौन्दर्य का बोध हो जाए, उसे रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता कहते हैं।

''तब ही गुन सोभा लहै सहदय जबहि सराहिं।
कमल कमल है तबहि जब रवि कर सोविकसाहि।''

(2) पर्याय वक्रता– जब एक ही अर्थ के द्योतक अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं, किंतु उनमें से किसी एक को चुनकर उक्ति

में वक्रता अर्थात सौंदर्य उत्पन्न किया जाता है, तब उसे पर्याय वक्रता कहा जाता है।

''अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी''

यहाँ अबला के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द नारी रख दिया जाय, तो उसका मूल सौन्दर्य नष्ट हो जाएगा। इसीलिए कवि ऐसे शब्द का चुनाव करता है, जिससे वाक्य में सौन्दर्य का बोध हो।

(3) उपचार वक्रता– विभिन्न पदार्थों में सादृष्य के कारण जब समानता का आभास होता है, तब वह उपचार होता है, इसमें भेद होते हुए भी अभदेता का अनुभव होता है, उसे उपचार वक्रता कहते हैं। अमूर्त पर मूर्त का आरोप, अचेतन पर चेतन का आरोप आदि इसी के अंतर्गत आते हैं। अतः विशेषण विपर्यय तथा मानवीकरण जैसे अंलकार वक्रता में समानता है।

(4) विशेषण वक्रता– जिसमें विशेषणों की विचित्रता या वक्रता से काव्य में सौन्दर्य हो, उसे विशेषण वक्रता कहते हैं।

(5) संवृति वक्रता– सर्वनाम आदि के द्वारा काव्य में वैचित्र्य या वक्रता उत्पन्न किया जाता है, वह सवृतिं वक्रता कहलाती है। इसमें स्पष्ट कथन की अपेक्षा सांकेतिक सर्वनाम आदि से उक्ति मे सौन्दर्य लाया जाता है।

(6) वृत्ति वक्रता– जहाँ समास कृत हो तथा समास जन्य चत्मकार हो, वह वृत्ति वक्रता कहलाती है। कुन्तक के अनुसार अव्ययीभाव आदि वृत्तियों में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है, तब उसे वृत्ति वक्रता कहा जाता है।

(7) लिंग वैचित्र्य वक्रता– लिंग परिवर्तन के द्वारा काव्य में उत्पन्न होने वाले चमत्कार को लिंग वैचित्र्य वक्रता कहा जाता है। जैसा कि विज्ञापन में पुरूष पात्रों द्वारा स्त्रियों के जैसा व्यवहार किये जाने से लिंग वैचित्र्य वक्रता का बोध होता है।

(8) क्रिया वैचित्र्य वक्रता– जहां काव्य मे क्रियापद पर आश्रित वैचित्र्य हो, उसे क्रिया वैचित्रय वक्रता कहते हैं। इसमें क्रिया

के द्वारा विशिष्ट अर्थ उत्पन्न होता है। इसमें लक्षण और शब्द संबंधी विचित्रता का समावेश होता है।

(9) भाव वैचित्र्य वक्रता– काव्य में जहां सौन्दर्य सृजन से भाव तत्व की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ भाव वैचि़त्र्य वक्रता होती है।

(10) प्रत्यय वक्रता– जहां काव्य के वाक्य वक्रता में वर्ण विन्यास हो, इसे प्रत्यय वक्रता कहते हैं या पद के परार्द्ध में प्रत्यय का वैचित्र्य प्रयोग हो, प्रत्यय–वक्रता है।

3. पद परार्द्ध वक्रता– पद के परार्द्ध में प्रकट विशेषताओं या वैचित्र्य का संकेत होता है या कह सकते हैं कि प्रत्ययों का वैचित्र्य पूर्ण प्रयोग ही प्रत्यय वक्रता कहलाती है। इसके भेद हैं– काल, कारक, संख्या, पुरूष, उपसर्ग, प्रत्यय तथा पद वक्रता आदि।

4. वाक्य वक्रता– जहां पद समुदाय की वक्रता हो, उसे वाक्य वक्रता कहते हैं। दूसरे शब्दों में, वक्रता का आधार पूरा वाक्य होता है। इसके अन्तर्गत सुन्दर और उदार वर्णीय विषय का सुन्दर और रमणीय वर्णन होता है। इसके मुख्य रूप से दो प्रकार हैं– सहजा और आहार्या, इसमें प्रतिभा द्वारा चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है।

5. प्रकरण वक्रता– प्रसंग विशेष के वर्णन में वैचित्र्य उत्पन्न करना प्रकरण वक्रता कहलाती है। प्रकरण वक्रता किसी प्रसंग के औचित्य को प्रभावशाली बनाने मे होती है। इसके कई भेद हैं। जैसे–

(1) भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना।
(2) प्रसंग की मौलिकता।
(3) पूर्व प्रचलित प्रसंग मे संशोधन।
(4) रोचक प्रसंगो का विस्तृत वर्णन।
(5) प्रधान उद्‌देश्य की सिद्धि के लिए सुन्दर अप्रधान प्रसंग की उद्‌भावना।
(6) प्रसंगो का पूर्वा पर क्रम से अन्वय।

(1) भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना– कवि अपनी रचना को ऊपर उठाने के उद्देश्य से अलौकिक रीति से नवीन कल्पना द्वारा

प्रकरण की उद्‌भावना करता है।

(2) प्रसंग की मौलिकता– यहां कवि असीम उत्साह के साथ किसी प्रसंग को प्रकट करता है। वह उत्साह नायक की चारित्रिक विशेषताओं का कारण होता है। जैसे, रामचरित मानस का धनुभंग प्रसंग।

(3) पूर्व प्रचलित प्रसंग में संशोधन– यहां इतिहास के कथा प्रसंग में नवीन कल्पना की जाती है। जैसे, पद्‌मावत में रत्नसेन की मृत्यु देवपाल के हाथों कराना।

(4) रोचक प्रसंगो का विस्तृत वर्णन– यहां किसी सामान्य प्रसंग को रोचक या रसमय बनाने के लिए कवि उसका विस्तार पूर्वक वर्णन करता है। जैसे, सूरदास का भ्रमरगीत सार।

(5) प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुंदर अप्रधान प्रसंग की उद्‌भावना– यहां उद्देश्य की सिद्धि के लिए सौन्दर्य और कल्पना के साथ वर्णन किया जाता है और वे एक दूसरे के उपकारक–उपकार्य के रूप आते हैं।

(6) प्रसंगों का पूर्वापर क्रम से अन्वय– यहां प्रकरण के भीतर विशेष प्रसंग की कल्पना की जाती है।

6. प्रबन्ध–वक्रता– सम्पूर्ण प्रबंध से इस वक्रता का सम्बन्ध होता है। इसके अन्तर्गत प्रबंध काव्य, महाकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि का सौन्दर्य आता है। यह वक्रोक्ति का व्यापक रूप है। इसके छः भेद हैं–

(1) मूलरस परिवर्तन वक्रता– इसमें ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान को इस प्रकार प्रस्तुत करना होता है, जिससे उसका मूलभाव और रस मे परिवर्तन हो जाए।

(2) नाटक के चरित्र में संशोधन।

(3) कथा विचछेद वक्रता – कथा के मध्य में किसी ऐसे कार्य की अवतारणा करना, जो कि प्रधान कार्य की सिद्धि में योग दे, वही कथा विच्छेद वक्रता है।

(4) आनुषांगिक फल वक्रता– नायक द्वारा मुख्य फल के साथ–साथ अनेक फलों की प्राप्ति हो, वही आनुषांगिक फल वक्रता है।

(5) नामकरण वक्रता – प्रबन्ध का नामकरण प्रधान कथा या घटना का सूचक होता है।

(6) तुल्यकथा वक्रता– एक ही मूल कथा पर आश्रित प्रबंधों का वैचित्र्य वैविध्य हो, तुल्यकथा वक्रता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्तक ने वक्रोक्ति को इतना व्यापक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया था कि उनकी वक्रोक्ति कवि के समस्त व्यापक व्यापार तक व्याप्त है। उन्होंने वर्ण योजना से लेकर प्रबन्ध योजना तक काव्य में आये समस्त चमत्कार को वक्रोक्ति की सीमाओं में समेटने का प्रयास किया है। अंततः इसमें शैली, गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि, औचित्य, रस आदि का भी समावेश हुआ है। कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धांत ने काव्य के सूक्ष्म सिद्धांत विश्लेषण के लिए आदर्श बनकर चमत्कार उत्पन्न किया है।

■■

(12)
वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद

डॉ. कुसुम माधुरी टोप्पो

क्रोंचे के सिद्धान्त को लेकर हिन्दी मे काफी भ्रामक स्थिति देखने को मिलती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के समर्थ रसवादी आलोचक हैं, किन्तु रस भाव की अवहेलना की गई या उसके महत्व की उपेक्षा हुई, वहाँ आलोचक क्रुद्ध हो जाता है। साहित्य में वे भाववादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा चाहते थे, इसीलिए क्रोंचे और कुन्तक दोनों ही उसके लिए समान थे। अभिव्यंजनावाद को लेकर उनका मत है कि क्रोंचे का अभिव्यंजनावाद भारतीय वक्रोक्ति का विलायती उत्थान है। इसीलिए उसे वाग्वैचित्रवाद की संज्ञा दी गई है। क्रोंचे का सिद्धान्त कला सृजन की आदर्शवादी दार्शनिक व्याख्या ही प्रस्तुत करता है। उन्होंने कला प्रक्रिया को सम्पूर्ण सिद्धान्त नही माना है। उस सिद्धान्त का मुख्य सम्बन्ध सामान्य कला से है, जबकि वक्रोक्ति सिद्धान्त केवल काव्य से संबंध रखता है। दोनों सिद्धान्त अपने लक्ष्यों तथा प्रयोग, क्षेत्र तथा साधनों से परस्पर भिन्न है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। वक्रोक्ति से उनका अभिप्राय कथन की वक्रता से है। कुन्तक और क्रोंचे के सिद्धांतों में कुछ साम्य है, तो वहीं कुछ वैषम्य

---

* जन्म तिथि : 20.09.1975, पति : डॉ. किशोर मिंज, योग्यता : एम. ए., एम. फिल., पी–एच. डी., नेट, सम्प्रति : सहायक प्रध्यापक (हिन्दी), नवीन शासकीय महाविद्यालय कांसाबेल, जिला– जशपुर, मो0नं0 : 9131556935, मेल आई डी : kusummadhuri953@gmail.com

भी, जिसे हम अलग – अलग रूपों में स्पष्ट करते हैं।

वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद में साम्य भाव

1. अभिव्यंजनावाद काव्य का प्राण है तथा ''वक्रोक्ति काव्यजीवितम''। जिस प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति में समस्त आंतरिक और बाह्य काव्य विषय और अभिव्यंजनावाद शैली अन्तर्भूत हो जाती है। उसी प्रकार क्रोंचे की अभिव्यंजना मे भी सहजानुभूति और अभिव्यंजना अभिन्न है।
2. दोनों आचार्य ने काव्य में कल्पना को प्रमुखता प्रदान की है। सहानुभूति कल्पना ही है, क्योंकि वह वस्तु के भाव में भी होती है और अभाव में भी। कुन्तक में वक्रोक्ति वैदग्ध भणिति होने के कारण कवि की कल्पना ही है, इसीलिए लोकव्यवहार और दर्शक से भिन्न है।
3. क्रोंचे और कुन्तक दोनों आचार्यों ने अभिव्यंजना अथवा उक्ति को मूलतः अविभाज्य और अद्वितीय मानते हैं।
4. दोनों आचार्य काव्य को अनुकरणीय नही मानते हैं।
5. कुन्तक और क्रोंचे अभिव्यंजना और सौन्दर्याभिव्यंजना में श्रेणियाँ नही मानते, जिससे अभिव्यंजना सफल होती है। इसमें कम या अधिक सफल नहीं मानते हैं।
6. कुन्तक काव्यरीतियों में उत्तम, मध्यम, अधम की कल्पना उचित नही मानते; तो दूसरी ओर क्रोंचे भी पूर्णतर पूर्णतम भेद मानने को प्रस्तुत नही है।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद में वैषम्य

सत्य यही है कि दोनों दृष्टियों में कला तत्व को परम तत्व माना गया है। परन्तु दोनों की कला संबंधी संकल्पना भिन्न है। कई बिंदुओं को देखने से स्पष्ट होता है कि दोनों आचार्यों में वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद साम्य होकर भी कहीं–न–कहीं विषमता देखने को मिलती है। निम्न रूपों में उनके वैषम्य को स्पष्ट किया गया है–

1. क्रोंचे दार्शनिक हैं। वे अलंकार शास्त्र को नहीं मानते, जबकि कुन्तक अंलकार शास्त्र के रचनाकार हैं।
2. क्रोंचे सहजानुभूति अभिव्यक्ति को केवल सहज मानते हैं। उसकी वक्रता और ऋतु में भेद नहीं होता, जबकि कुन्तक लोक भिन्न दर्शनभिन्न वक्रता को महत्वहीन तथा सामान्य उक्ति को काव्य नही मानते हैं।
3. कुन्तक आनन्द को सौन्दर्य की सिद्धि ही नहीं, अपितु कारण भी मानते हैं, जबकि क्रोंचे ने सौन्दर्य और उसके प्रतिरूप अभिव्यंजना को उद्देश्यमय माना है।
4. क्रोंचे के अभिव्यंजनावाद मे नीति–अनीति का प्रश्न नही उठता, जबकि वक्रोक्तिवाद भारतीय दर्शन और विचार परम्परा के अनुरूप नीतिवादिता नही त्याग सका ।
5. कुन्तक कला को सोद्देश्य मानते थे, जबकि क्रोंचे का मत था कि उददे्श्य को दृष्टि में रखकर चलने से रचना मे सहजता नहीं रह जाती है।
6. क्राचें का मत है कि कला या अभिव्यंजना मानसिक स्तर पर ही पूर्ण होती है। उसकी बाह्य अभिव्यक्ति अतिरिक्त और अनावश्यक क्रिया होती है। कुंतक के लिए अभिव्यंजना अभिव्यक्ति मानसिक स्तर पर रची हुई उक्ति का बाह्य जगत में प्रकटीकरण है।
7. क्रोंचे के अनुसार वस्तु तत्व गौण, अरूप, संवेदन अभिव्यंजना के अभाव में अस्तित्वहीन है। जबकि कुन्तक ने कवि व्यापार के महत्व को स्वीकारते हुए भी उसे नगण्य वस्तु नहीं माना, अपितु प्रबंध–वक्रता में वे रस और वस्तु का स्पष्ट अन्तर और महत्व मानते हैं।

इन आधारों से स्पष्ट होता है कि कुन्तक तथा क्रोंचे की जीवन दृष्टि तथा कला दृष्टि भिन्न है।

कहीं–कहीं साम्य होते हुए भी वैषम्य का भाव देखने को मिलता है। दोनों के दृष्टिकोण में साम्य का भाव अपेक्षाकृत सतही और कम

महत्वपूर्ण है और वैषम्य के भाव अधिक महत्वपूर्ण तथा मूलगामी है। इसीलिए दोनों आचार्यों के मतों को एक ही कोटि में रखना उचित नहीं होगा। उनका वैचारिक दृष्टिकोण अपने स्तर पर सही माना जाता है।

संदर्भ ग्रंथ :–

1. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत– गणपतिचन्द्र गुप्त, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद।
2. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धान्त– डॉ. राजकिशोर सिंह, सीतापुर रोड लखनऊ।
3. पाश्चात्य काव्य शास्त्र– देवेन्द्रनाथ शर्मा, नेशनल पब्लिसिंग हाऊस दिल्ली।
4. काव्य में अभिव्यंजनावाद– डॉ. लक्ष्मी नारायण सुधांशु, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना।

■■

(13)
औचित्य सिद्धांत

डॉ. श्रीमती बी. नंदा जागृत

औचित्य सिद्धांत को आचार्य क्षेमेन्द्र ने सम्प्रदाय रूपता प्रदान की। ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, रस एवं अलंकार सम्प्रदायों के स्थापित हो जाने के पश्चात औचित्य सिद्धांत की स्थापना मानी जाती है। यह अन्य संप्रदायों का परवर्ती संप्रदाय है।

आचार्य क्षेमेन्द्र

ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध काल इनका काल माना जाता है। इनके पितामह (दादा) का नाम सिन्धु था एवं पिता प्रकाशेन्दु थे। ये कश्मीर के निवासी थे। पहले आचार्य क्षेमेन्द्र शैव थे। बाद में आचार्य सौम ने इन्हें वैष्णव धर्म में दीक्षित किया था। आचार्य अभिनव गुप्त इनके साहित्य गुरु थे।

रचनाएँ –

आचार्य क्षेमेन्द्र की रचनाएँ "औचित्य विचार चर्चा" और "कविकंठाभरण" का रचनाकाल सन् 1028 से 1065 तक का माना जाता है। इस समय कश्मीर में नरेश अनंत का शासन था। आचार्य ने अपनी प्रथम रचना में साहित्य विषय के नवीन मौलिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उनका मत है कि औचित्य ही काव्य का सर्वस्व

---

* जन्म : 20 जून 1964, ग्राम–जोंधरा, जिला–राजनांदगाँव (छ.ग.), पति : श्री आई. एस. जागृत (भूतपूर्व सैनिक), शिक्षा : एम. ए. (इतिहास, समाजशास्त्र, हिन्दी), पी–एच. डी. (हिन्दी), सम्प्रति : सहायक प्राध्यापक (हिन्दी) एवं शोध निदेशक, शासकीय दिग्विजय स्वशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय राजनांदगाँव, मो. : 9424111402

है।

"कविकंठाभरण" में कवि–शिक्षा का विवेचन है। "संवृत तिलक" में छन्द विवेचन है। इसमें मुख्यतः छंद शास्त्र, उसके विभिन्न अंगों को विश्लेषित किया गया है। इसमें भी इन्होंने नवीन उद्‌भावना को प्रकट किया है।

हमारे देश में संस्कृत साहित्य की समृद्ध परंपरा रही है। इस परंपरा को हमारे आचार्यों ने और अधिक संपुष्ट किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र की अन्य रचनाओं में "शिशुवंश", "वृहत्कथामंजरी", "भारतमंजरी" एवं "रामायणमंजरी" आदि ग्रंथों का भी उल्लेख होता है। साहित्य शास्त्र पर आधारित इनकी रचना "कवि कर्णिका" का नाम भी आता है, परन्तु यह उपलब्ध नहीं है। "दशावतार चरित" इनकी अंतिम रचना मानी गयी। इसका रचनाकाल सन् 1066 माना गया है।

औचित्य सिद्धांत

औचित्य का साधारण अर्थ होता है– उचित, उपयुक्तता या तर्क संगतता। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने "औचित्य विचार चर्चा" नामक ग्रंथ में औचित्य को इस प्रकार समझाया है–

काव्यस्याललंकारैः किं मिथ्यागणितेर्गुणे।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।।
अलंकारस्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं, काव्यस्य जीवितम्।।

(औचित्य विचार चर्चा 4–5)

आचार्य का कथन है कि काव्य के लिए अलंकार एवं गुणों के साथ ही जीवन औचित्य भी आवश्यक है। अर्थात् औचित्य का गुण ही काव्य में सप्राणता लाता है। अलंकार तभी काव्य को शोभायमान करता है, जब उसका उचित स्थान पर उपयोग हो, अर्थात् जहाँ अलंकार–औचित्य हो, वहाँ अलंकार का प्रयोग होना चाहिए। औचित्य से युक्त गुण ही गुण है, अन्यथा जिसकी कोई उपयोगिता न हो, उसका कोई औचित्य नहीं।

भरतमुनि नाट्यशास्त्र में कहते हैं, "त्रैलोक्य सुकृति नाट्यम" अर्थात् त्रैलोक्य की प्रत्येक अनुभूति का समाहार नाटक में होता है। विभिन्न समाज, देश, सभी के आचार, व्यवहार, संस्कृति और सभ्यता का चित्रण, उस समाज या देश में प्रचलित लोकाचार का प्रयोग संबंधित समाज के अनुकूल होना चाहिए, तभी दर्शक और पाठक उसका आस्वादन कर पायेंगे अन्यथा उस नाट्य का कोई औचित्य नहीं है। भरतमुनि ने 'औचित्य' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया है, परंतु प्रकारान्तर से उनका यह भाव उनके निम्नलिखित वचनों से प्रकट होते हैं –

लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजन्।
तस्मान्नाट्य प्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते।।

अर्थात् जो बात लोक में सिद्ध है, वही बात नाट्य में भी सिद्ध मानी जाती है। नाट्य सर्वदा लोक स्वभाव के अनुकरण से उद्भूत होता है। अतएव नाट्य के प्रयोग में लोक ही प्रमाण रूप में आता है।

भरतमुनि इस बात पर बल देते हैं कि नाट्य को लोक व्यवहार के अनुरूप प्रस्तुत किया जाना चाहिए। इस रूप में आचार्य क्षेमेन्द्र के पूर्व ही औचित्य सिद्धांत की भूमिका भरतमुनि ने बना दी थी। भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' के साथ ही कुछ काव्यशास्त्रीय ग्रंथो में 'औचित्य सिद्धांत' के लक्षण की प्रतिच्छाया दिखाई देती है। 'औचित्य' शब्द के प्रयोग का श्रेय आचार्य रूद्रट को जाता है। उन्होंने लिखा है –

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थ संस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्यामुहुश्चैवगृहीतमुक्ताः।।

इन वृत्तियों को समझकर पात्रानुकूल एवं अर्थानुकूल उसके 'औचित्य' पर विचार कर ही उपर्युक्त वृत्तियों को काव्य में मिश्रित रूप में निबद्ध करना चाहिए। यह भी ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि ये संतुलित रूप में हो और यथास्थान उनका प्रयोग हो। आचार्य आनन्दवर्धन ने 'औचित्य' पर विस्तार पूर्वक विचार किया है। इनके

रसों के 'औचित्य' की चर्चा में सभी प्रकार के औचित्य समाहित हो जाते हैं। इनके ग्रंथों में 'औचित्य' संप्रदाय के प्रारंभिक रूप को देखा जा सकता है। शब्द और अर्थ की योजना के संबंध में ये लिखते हैं–

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः।।

अर्थात् औचित्य के साथ रस इत्यादि के विषय के द्वारा वाच्यों और वाचकों की योजना महाकवि का मुख्य कर्म है।

कहा जा सकता है कि इन्होंने औचित्य सिद्धांत प्रकरण पर पृथक रूप से कोई रचना नहीं की है, परन्तु काव्य के विभिन्न तत्वानुरूप औचित्य के पालन की बात करते हैं।

आचार्य अभिनव गुप्त ने औचित्य पर विचार करते हुए यह माना है कि काव्य का निबंधन औचित्य है और औचित्य का निबंधन रस भावादि है। इसलिए रस भावादि को छोड़कर काव्य का और कोई जीवन हो ही नहीं सकता। जो लोग औचित्य का प्रतिपादन करते हैं, वे ध्वनि और रस का काव्यात्मा के रूप में अनजाने ही समर्थन कर देते हैं। इसके अतिरिक्त भट्टलोल्लट, राजशेखर, कुन्तक आदि आचार्यों ने औचित्य को सम्प्रदाय में आने के पूर्व उसे सम्प्रदाय रूप प्रदान करने की भूमिका निर्मित करने में परोक्ष रूप से योगदान दिया।

आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धांत

काव्यशास्त्र में औचित्य– विचार पर चर्चा के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इसके पूर्व के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इस सिद्धांत पर अन्य आचार्यों ने अपने काव्य– विवेचन में इसका उल्लेख किया है, परन्तु इसे सम्प्रदाय – रूप में स्थापित करने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही है।

औचित्य–स्वरूप

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार, "जिसके जो अनुकूल हो, उसे 'उचित' कहते हैं। उचित का ही भाववाचक संज्ञा औचित्य है।"

अर्थात् उचित का भाव ही औचित्य है। यह औचित्य काव्य रूपी शरीर में प्राण के समान है। काव्य का जीवन रस है और रस का जीवन औचित्य है। आचार्यों का यह मत है कि कवि का मुख्य लक्ष्य रस और भाव होता है। काव्य के सभी अंगो का नियोजन उचित रूप में होना चाहिए, जिससे पाठकों को सब कुछ स्वाभाविक प्रतीत हो। औचित्य गुण ही काव्य में सप्राणता लाता है। आचार्य स्पष्ट करते हैं कि यह पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार, संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीर्वाद आदि स्थानों में मर्म स्थानों के समान काव्य के संपूर्ण शरीर में स्थित प्राण रूपी औचित्य स्पष्ट होता है –

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थ गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायांकारके लिंगे वचने न विशेषणे।।
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्वे सत्वऽप्यभिप्राये स्वभावे सार संग्रहे।।
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि।
काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।।

– (समीक्षा के मान – डॉ. प्रतापनारायण टंडन– पृ.376)

औचित्य के भेद

पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिस रूप में काव्य के अन्य सिद्धांतों का वर्गीकरण किया है। उसी परंपरा के आधार पर क्षेमेन्द्र ने औचित्य के भेद–उपभेद का विश्लेषण किया है एवं काव्य के विभिन्न स्थानों पर औचित्य की सत्ता पर विचार किया है। उसे निम्न विभिन्न भागों में विभाजित किया जा सकता है–

पद औचित्य–

पद, वाक्य और प्रबंध योजना विषय पर मीमांसा दर्शन में विचार करते हुए कहा गया है कि पद का प्रयोग विषय के अनुकूल ही किया जाना चाहिए। काव्य में कोई पद ऐसा होता है, जिसके कारण उस

काव्य की शोभा में वृद्धि होती है। इसलिए कवि को शब्दों का प्रयोग यथास्थान करना चाहिए। शब्दों के पर्यायवाची का प्रयोग व्यंजनात्मक अर्थ के अनुकूल किया जाना आवश्यक है, क्योंकि सूक्ति एक ही उचित पद को तिलक के समान धारण करती है। वह कस्तूरी धारण की हुई चन्द्रानना और चन्दन चर्चित श्यामा के समान शोभा पाती है। आचार्य के उक्त कथन से इस बात की संपुष्टि होती है–

तिलकं विभन्ती सूक्तिर्मात्थेत्येकमुचितं पदम्।
चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेय चान्दनम्।।

(समीक्षा के मान– पृ. 376)

वाक्य औचित्य –

शब्दों के साथ–साथ वाक्य रचना में भी चमत्कार की योजना होती है, वहाँ वाक्य औचित्य होता है। कविवर बिहारी की रचनाएँ इसका अच्छा उदाहरण है। क्षेमेन्द्र का मत है कि काव्य की निर्मिति औचित्य से होती है। ऐसा काव्य, त्याग द्वारा उन्नत ऐश्वर्य और शील द्वारा उज्ज्वल प्रसिद्धि के समान विद्वानों द्वारा निरंतर प्रशंसा प्राप्त करता है –

औचित्यरचितं वाक्यं सततं समतमसताम।
त्यागोदग्रमिवैश्वर्य शीलोज्जवलमिव श्रतम्।

(समीक्षा के मान पृ.– 377)

प्रबंध औचित्य –

जब कवि अपनी प्रतिभा और कल्पना के आधार पर प्रबंध को विशिष्ट अर्थ से आप्लावित कर देता है, तब वहाँ प्रबंध औचित्य होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य विचार चर्चा' रचना में प्रबंध औचित्य को इस तरह व्यक्त किया है –

प्रस्तुतार्थाचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवौन्गुणः।
स्यन्दतीन्दूरिवानन्दं संयोगावसरोदितः।।

(समीक्षा के मान पृ.– 377)

अर्थात् प्रबन्धात अर्थ उचित अर्थ की विशिष्टता से उसी प्रकार से प्रकाशित होता है, जिस प्रकार से गुण के प्रभाव द्वारा भव्य ऐश्वर्य से सज्जन पुरूष।

जयशंकर प्रसाद की कामायनी में वैदिक आख्यान के साथ–साथ मनुष्य की प्रवृत्ति का जिस प्रकार उदात्त रूप से चित्रण करके सास्वत प्रदेश के विकास के साथ आनंद का संयोजन है, वह प्रबन्ध औचित्य का सुन्दर उदाहरण है।

गुणौचित्य–

काव्यशास्त्रीय तत्वों में औचित्य का विशेष स्थान होता है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से तीन गुण माने गये हैं– ओज गुण, प्रसाद गुण और माधुर्य गुण। आचार्य भामह, दण्डी, वामन एवं कुन्तक जैसे आचार्यों के विचारों का अध्ययन एवं अनुकरण करने पर भी यह तथ्य प्रकट होता है कि काव्य में गुणों का औचित्य अपेक्षित रहता है। श्रृंगारिका पदावली में माधुर्यगुण, वीर रसात्मक काव्य में ओज गुण की शोभा होती है। आचार्य क्षेमेन्द्र का मानना है कि औचित्य से ओज, प्रसाद, माधुर्य एवं सौकुमार्य आदि लक्षणों से युक्त गुणमय काव्य आनंददायक होता है।

अलंकार औचित्य–

अलंकार औचित्य पर आनंदवर्धन विस्तार पूर्वक चर्चा कर यह निर्दिष्ट करते हैं कि काव्य में कहाँ और कितनी मात्रा में अलंकार की योजना होनी चाहिए और कहाँ अलंकार नहीं होना चाहिए। तत्वतः इसे ही अलंकार औचित्य कहा जाता है। आचार्य क्षेमेन्द्र के मत से अर्थोचित अलंकार से युक्त काव्य शोभा को प्राप्त करता है।

रसौचित्य–

काव्य में ऐसे तत्व का निषेध करना चाहिए, जो भाव और रस उत्पन्न करने में बाधक होते हैं। काव्य में औचित्य पूर्ण रस के होने से काव्य सुशोभित होता है। क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि जिस प्रकार बसंत अशोक को अंकुरित करता है, उसी प्रकार औचित्य द्वारा प्रदीप्त रस

मन को प्रफुल्लित करता है।

स्वभाव औचित्य –

आचार्य क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि स्वभाव विषयक औचित्य उसी प्रकार कवि की सूक्तियों के श्रेष्ठ अलंकार के रूप में मान्य होता है, जिस प्रकार से सुन्दरियों का स्वाभाविक और अद्वितीय सौंदर्य होता है।

सत्व एवं तत्व औचित्य –

सत्व औचित्य के संबंध में आचार्य क्षेमेन्द्र ने लिखा है –

चमत्कारं करौत्येव वचः सत्वोचितं कवे।

विचारश्चिरोदर चारितं सुमतेरिव।। (समीक्षा के मान पृ.– 378)

अर्थात् कवि का सत्व गुण से उचित कथन उसी प्रकार से चमत्कारिक सिद्ध होता है, जिस प्रकार से सुबुद्धि द्वारा विचार किया हुआ श्रेष्ठ उदार चरित्र।

इसी प्रकार उचित तत्व कथन से काव्य में निश्चित विश्वास की दृढ़ता के कारण तत्व औचित्य की उपादेयता में वृद्धि हो जाती है। इसे ही तत्व औचित्य कहा जाता है –

काव्यं हृदयसंवादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात्।
तत्वोचित्तामिद्यानेन यात्युपादेयतां कवेः।।

(डॉ. प्रतापनारायण टंडन पृ.– 378)

प्रतिभा औचित्य –

काव्य–रचना हेतु प्रतिभा औचित्य आवश्यक है। आचार्य का मत है कि प्रतिभा से अलंकृत कवि द्वारा रचित काव्य उसी प्रकार शोभा पाता है, जिस प्रकार से लक्ष्मी द्वारा सुशोभित गुणी पुरुष का निर्मल कुल।

प्रतिभाभरणं काव्यमुचित शोभते कविः।
निर्मलं सगुणस्येव कुलं मूर्तिविभूषतिम्।।

(डॉ. प्रतापनारायण टंडन पृ.– 379)

औचित्य का महत्व

काव्यशास्त्र का अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है– औचित्य। यह काव्य–सौंदर्य में वृद्धि का हेतु या कारक है। अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति को सीमाबद्ध करने का कार्य औचित्य द्वारा सम्पन्न होता है। औचित्य व्यापक काव्य सिद्धांत है। इसे न केवल भारतीय काव्यशास्त्र में, बल्कि पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने भी इसके महत्व को स्वीकार किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र की प्रसिद्ध रचना "औचित्य विचार चर्चा" में काव्य में औचित्य तत्व की महत्ता प्रतिपादित है। उनके अनुसार औचित्य ही रस का जीवन है। जिस प्रकार सूरदास के वात्सल्य चित्रण के प्रभाव से वात्सल्य रस की उत्पत्ति हुई, उसी तरह यह समझा जा सकता है कि औचित्य पर आचार्य क्षेमेन्द्र के विचार को उनके परवर्ती विद्वानों ने, उनके मत के आधार पर, एक स्वतंत्र काव्य संप्रदाय के रूप मे मान्यता प्रदान की।

यह सत्य है कि काव्य में बिना किसी उचित औचित्य के किसी तत्व का बलात् निरूपण काव्य–सौंदर्य में वृद्धि के स्थान पर उसकी शोभा को कम या समाप्त करने का कारक बन सकता है। अतः क्षेमेन्द्र का औचित्य विचार का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है।

सन्दर्भ ग्रंथ :–

1. डॉ. प्रतापनारायण टंडन, समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ, विवेक प्रकाशन लखनऊ, प्रथम संस्करण 1965
2. डॉ. रामसागर त्रिपाठी, समीक्षाशास्त्र के भारतीय तथा पाश्चात्य मानदंड, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1972

■■

(14)
ध्वनि सिद्धांत

श्रीमती माग्रेट कुजूर

काव्य के मूलभूत तत्व के रूप में ध्वनि का प्रथम प्रयोग नवमीं शताब्दी में आनंदवर्धन ने किया था, जो इनके ग्रंथ "ध्वन्यालोक" में मिलता है। आनंदवर्धन ने ध्वनि को विधि और निषेध दो रूपों में प्रस्तुत किया है। उन्होंने विधि में विस्फोटक रूप को और निषेध में उन आचार्यों के विचारों का खंडन किया है; जो अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्ति को स्वीकार नहीं करते। आनंदवर्धन ने अपने ग्रंथ में मुख्यतः दो कार्य किये हैं– प्रथम, ध्वनि का रूप तथा भेद प्रस्तुत किये हैं; द्वितीय, रस, रीति और अलंकार को नवीन रूप प्रदान करते हुए ध्वनि सिद्धाँत के अंतर्गत शामिल किया है। आनंदवर्धन इन चारों सिद्वाँतों में से ध्वनि को प्रमुखतया से स्थान दिया है तथा ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है।

आनंदवर्धन ने ध्वनि को व्यापक अर्थ में प्रस्तुत किया है। ध्वनि को व्यंजक शब्द, व्यंग्य अर्थ, वस्तु अलंकार एवं रस जिसकी व्यंजना हो, व्यंजना–व्यापार तथा व्यंग्यार्थ समन्वित काव्य सबके लिए प्रयुक्त किया है। वस्तुतः पाँचों अर्थ एक दूसरे से घनिष्ठ संबंध रखते हैं और एक संश्लिष्ट प्रक्रिया के विभिन्न रूपों का उद्घाटन करते हैं।

---

* पति : श्री निरंजन कुजूर (सहायक प्राध्यापक), सम्प्रति : सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), शासकीय महाविद्यालय धरमजयगढ, जिला– रायगढ (छ.ग.), सम्मान : छत्तीसगढ़ नारी गौरव सम्मान, छत्तीसगढ़ काव्य श्री सम्मान आदि, मो. : 9669213973, मेल– : margreatkujur@gmail.com

ध्वनि के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण

1. प्लेटो– "काव्य भौतिक पदार्थों या घटनाओं का अनुकरण करता है, अतः काव्य अनुकृति अथवा प्रतिकृति मात्र है, इससे बढ़कर और कुछ नही है।"

2. अरस्तु– "अरस्तु अनुकृति को मानते हैं, परंतु प्रतिकृति को नहीं मानते। इसके स्थान पर वर्ण्य विषय का कल्पनात्मक पुर्ननिर्माण है, पाठक वस्तु के प्रत्यक्ष रूप को ग्रहण नहीं करता, उसके विषय में कवि के मानस में क्या रूप है, उसे स्वीकार करता है।"

हिन्दी आचार्यों का ध्वनि संबंधी मत

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल– "काव्यत्व का अधिवास वाच्यार्थ में होता है अथवा व्यंग्यार्थ में। इस विषय में उनका स्पष्ट उत्तर है– वाच्यार्थ में। उदाहरण– जीकर हाय पतंग मरे क्या, यह वाक्य भले ही अयोग्य हो, पर चमत्कार वाच्यार्थ में ही है।"

2. आनंदवर्धन – "जहाँ अर्थ स्वयं को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करतें हैं, उस काव्य विशेष को विद्वान लोग ध्वनि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वाच्यार्थ की अपेक्षा जहॉ व्यांग्यार्थ प्रधान हो, वह ध्वनि काव्य है। वैसे तो किसी भी शब्द या वाक्य से कोई–न–कोई व्यंग्यार्थ निकाला ही जा सकता है, लेकिन प्रत्येक व्यंग्यार्थ को ध्वनि काव्य नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः चमत्कारी व्यंग्य ही काव्य के रूप में समाहित हो सकता है।"

ध्वनि सिद्धाँत के स्रोत

1. व्याकरण शास्त्र– व्याकरण ग्रंथों में व्यंजना शब्दशक्ति अथवा ध्वनि के संकेत प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त नही कर पाते, जिन्हें काव्यशास्त्र में ध्वनि का मूल स्रोत के रूप में मान्य हो। स्फोटवादियों ने ध्वनि को व्यंजक तथा स्फोट को व्यंग्य स्वीकार किया है, परंतु काव्यशास्त्रियों ने ध्वनि, व्यंजक और व्यंग्य लिए व्याकरण से लिया

है, परंतु व्याख्या भिन्न–भिन्न प्रकार से किया गया है।

2. आनंदवर्धन से पूर्व आचार्यों ने ध्वनि का स्पष्ट प्रयोग नहीं किया है, परन्तु भामह, दण्डी, आदि के ग्रंथों में प्रयुक्त अलंकारों में व्यंजना की प्रतीति होती है। जैसे– प्रतिवस्तूमा, अपह्नुति, पर्यायोक्त आदि अलंकार।

पर्यायोक्त अलंकार उसे कहते हैं, जिसमें बात को किसी अन्य प्रकार से व्यक्त किया जाता है। इसमें शब्द वाचक नही, व्यंजक तथा अर्थ वाच्य नही, व्यंग्य कहलाता है। आनंदवर्धन के समय तक ध्वनि एक सिद्वॉत के रूप में विकसित हो गया था तथा इस सिद्वॉत के विरोधी भी हो गये थे। ध्वनि सिद्वॉत का एक स्रोत व्याकरण शास्त्र, जो अप्रत्यक्ष है; जबकि दूसरा अलंकार सिद्धॉत है (भारतीय काव्यशास्त्र), जो प्रत्यक्ष है।

ध्वनि का स्वरूप

आनंदवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बताया है कि जहॉ वाच्य अर्थ एवं वाचक शब्द अपने आप को गौण मानकर एक विशेष अर्थ को प्रकट करते हैं, वह ध्वनि कहलाती है। आनंदवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

(क) किसी अंगना के सौंदर्य, लावण्य परस्पर भिन्न होते हैं, उसी प्रकार महाकवियों के मुख से अभिव्यक्त अर्थ भिन्न होते हैं।

प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्वावयातिरिक्त विभाति लावण्यमिवांगनासु।।

(ख) वाच्यार्थ और व्यंजना शक्ति के द्वारा प्रतिपादित व्यंग्यार्थ भिन्न– भिन्न होते हैं।

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान जन।
तदुपायतया तद्वद् अर्थ वाच्यै तदाद्त।।

(ग) आनंदवर्धन ने ध्वन्यार्थ को सुंदरियों की लज्जा के समान माना है।

मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि।

प्रतीयमानच्छायेषा भूषा लज्जेय योषिताम्।।

उपरोक्त उदाहरण के निम्न निष्कर्ष आते हैं।

1. व्यंग्यार्थ, शब्दार्थ से पृथक होते हैं।

2. ध्वनि, प्रकाश, लज्जा आंतरिक तथ्य हैं।

3. प्रकाश के लिए दीपशिखा की आवश्यकता रहती है और ध्वनि के लिए शब्दार्थ, वाच्य अर्थ, वाचक शब्द की आवश्यकता रहती है।

ध्वनि के तारतम्य के आधार पर काव्य के तीन भेद हैं। ऐसा कोई काव्य नहीं, जिसमें ध्वनि तत्व न पाया जाता हो, परंतु सभी काव्य में यह एक जैसा नही होता। आनंदवर्धन ने काव्य को निम्नलिखित तीन प्रकारों में बांटा है।

(क) ध्वनि काव्य– जहॉ व्यंग्यार्थ का चमत्कार वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान हो। ध्वनि काव्य के निम्नलिखित पॉच भेद हैं–

1. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि– इसमें ध्वनि वहॉ पर होता है जहॉ वाच्यार्थ, अन्य व्यंग्य अर्थ में समाविष्ट हो जाता है। जैसे,

सेना छिन्न, प्रबल भिन्न कर, पा मुराद मनचाही।

कैसे पूंजूॅ गुमराही को, मैं हूॅ एक सिपाही।। (भारतीय आत्मा)

यहॉ सिपाही शब्द का वाच्यार्थ है– योद्धा। परंतु यहॉ वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ में समाविष्ट है। सिपाही शब्द का व्यंग्यार्थ है– अपने जीवन का बलिदान करने वाला, हिम्मत वाला देश आदि।

2. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि– इस ध्वनि में वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ की तुलना में अत्यंत उपेक्षित हो जाता है। जैसे,

नीलोत्पल के बीच समाये मोती से ऑसु के बूंद। (प्रसाद)

हृदय – सुधानिधि से निकले हो तब न तुम्हे पहचान सके।।

यहॉ नीलोत्पल का वाच्यार्थ शब्द है– कमल तथा नेत्र व्यंग्यार्थ है। यहॉ वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ तिरस्कृत हो गया है।

3. वस्तु ध्वनि– यहाँ व्यंग्यार्थ वस्तु–सा प्रतीत होता है, इसलिए इसे वस्तु ध्वनि कहा जाता है। जैसे,

वह इष्ट देव के मंदिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शांत, भव में लीन,
वह क्रूर काल– तांण्डव की स्मृति रेखा सी,
वी टूटे तरू की छुटी लता सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है। (निराला)

इन उपमानों से क्रमशः भारत की विधवा स्त्री की दयनीय दशा और विवशता बोधित होती है। यहाँ पवित्रता एक वस्तु है, एक व्यंग्य है।

4. अलंकार ध्वनि– इसमें व्यंग्यार्थ अलंकार के रूप में प्रतीत होता है। जैसे,

दियो अरघ नीचे संकट – भानै जाइ।
सुचती ह्वै औरे सबै ससिहिं विलोकै आइ।। (बिहारी)

5. रस ध्वनि– इसमें व्यंग्यार्थ विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से संबंधित होता है। इसके अंतर्गत रस, भाव, रसाभास और भावाभास, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता, भावशांति प्रमुख हैं। जैसे,

एक पल मेरी प्रिया के दृग – पलक,
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकंपित पुलक से,
दृढ़ किया मानों प्रणय – संबंध था।। (पंत)

आलंबन विभाव– नायिका व नायक हैं। उद्दीपन विभाव है– नायिका के पलकों का झपकना। अनुभाव है– नायक का मंद पुलक। संचारी भाव है– लज्जा आदि। इस स्थिति में सहृदय को काव्यानंद प्राप्त होता है। उक्त सामग्री में रस ध्वनि है। इसे ही संक्षेप में रस कहते हैं।

(ख) गुणीभूतव्यंग्य काव्य– गुणीभूत व्यंग्य काव्य वहॉ होता है, जहॉ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में गौण अथवा समान रूप से चमत्कारिक हो। इसके निम्नलिखित भेद हैं–

1. अगूढ़ व्यंग्य– इसमें व्यंग्यार्थ गूढ़ नही होता, अपितु स्पष्ट होता है। जैसे,

पुत्रवती युवती जग सोई।
रामभगत जाकर सुत सोई।। (तुलसी)

2. अपरांग व्यंग्य– इसमें एक व्यंग्य होता है। रस, स्थायी भाव, संचारी भाव, अनुभाव आदि में से एक दूसरे का अंग बनकर उत्कर्ष करे व अंग बने और उस अंगी की अपेक्षा चमत्कारपूर्ण हो। अंगभूतों को अलंकार इसलिए कहा गया है कि ये अंगीभूतों को अलंकृत करते हैं। उदाहरण–

सपनों है संसार यह रहस न जाने कोय।
मिलि पिय मनमानी करौं, काल कहॉ धौ होय।।

इस प्रकार महादेव पार्वती की भक्ति व्यंजना करते हुए कवि के द्वारा उनका रतिसंबंध अधिक चमत्कारपूर्ण रूप से वर्णन किए जाने से यहाँ अपरांग गुणीभूतव्यंग्य हुआ है।

3. वाच्यसिद्धयंग व्यंग्य– इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्वि के लिए उसका अंग बन जाता है।

4. अस्फुट व्यंग्य– इसमें व्यंग्य तुरंत समझ में न आकर देर से समझ में आता है। उदाहरण –

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगंध के,
प्रथम वसंत में, गुच्छ – गुच्छा।। (निराला)

बसंत ऋतु के आगमन पर सुगंधित पुष्प गुच्छ में खिल जाते हैं, अतः यह पद्य वाच्यार्थ है। व्यंग्यार्थ यह है कि जब नायिका नव यौवन में प्रवेश करती है तो उसके मन में अनेक प्रकार की लालसा उदित होती है। यह व्यंग्य तुरंत समझ में नही आता।

5. संदिग्ध प्राधन्य व्यंग्य– इसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में किसकी प्रधानता है, संदेह बना रहता है। उदाहरण –

थके नयन रघुपति छवि देखी। पलकनहूँ परिहारी निमेखी।
अधिक सनेह देह भई भोरी। सरद ससिहिं जनु चितब चकोरी।।

चकोरी चंद्रमा को जिस प्रकार देखती है, उसी प्रकार सीता जी राम को देखती हैं तथा सीता जी राम जी को देखकर स्तब्ध रह जाती है। इसमें जड़ता नामक संचारी भाव होता है। इसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में से कौन चमत्कारपूर्ण है, संदेह है।

6. तुल्य प्रधान व्यंग्य– इसमें वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ का चमत्कार एक जैसा लगता है। जैसे,

पश्चिम जलधि में मेरी लहरीली अलकावली समान,
लहरे उठती थी मानों चूमने मुझ को,
और सॉस लेता था समीर मुझे छूकर।

यहॉ कमला की लंबी केशराशि और प्रेमोच्छ्वास वाच्यार्थ है। (प्रसाद–लहर, प्रलय की छाया)

समुद्र की तरंगे एवं समीर के उपमानों के साथ वर्णन व्यंग्यार्थ है। अतः दोनों अर्थ ही तुल्य रूप से चमत्कारपूर्ण प्रतीत होते हैं।

7. काक्वाक्षिप्त व्यंग्य– इसमें व्यंग्यार्थ स्वतः गृहीत होता है, जिसे काकु कहते हैं। उदाहरण–

वे कुछ दिन कितने सुंदर थे?
कितना सोहाग था, कैसा अनुराग था? (प्रसाद)

प्रश्नवाचक से संबंधित कथनों में जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, उसे ही काक्वाक्षिप्त व्यंग्य कहा जाता है।

8. असुंदर वाक्य– इसमें वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ सुंदर नही होता। जैसे,

"निज अलकों के अंधकार में तुम कैसे छिप जाओगे।"

केश पाश के अंधकार तिमिर में न छिप सकना, इस वाच्यार्थ का

व्यंग्यार्थ यह है कि मैं तुमहें ढूँढ़ लूंगा। यहॉ पर व्यंग्यार्थ चमत्कारपूर्ण प्रतीत नहीं होता तथा वाच्यार्थ यहॉ चमत्कारपूर्ण है।

(ग) चित्र काव्य– चित्र काव्य से तात्पर्य शब्दालंकार, अर्थालंकार अथवा गुणों की वर्ण व्यंजकता के कारण अर्थात् तीनों में से कोई एक के चमत्कार के आधिक्य के कारण तिरोभूत हो जाना या दबकर रह जाना है। उदाहरण–

प्रतिपल परिवर्तित– व्युह, भेद – कौशल समूह

राक्षस– विरूद्व प्रत्युह, कुच – कपि – विषम – हूह (निराला : राम की शक्ति पूजा)

उक्त पद्य में कवि की जिज्ञासा अनुप्रासालंकार चमत्कार में है। अतः यह (शब्दालंकार) चित्रकाव्य का उदाहरण है।

उदित उदय गिरि मंच पर. रघुवर बाल पतंग।

विकसे संत सरोज सब, हरषै लोचन भृंग।।

इसमें रूपक अलंकार का वाच्यार्थ प्रधान है तथा श्रीराम का सौदर्य रूप नगण्य मात्र रह गया है।

अभी हलाहल मदभरे स्वेत स्याम रतनार।

जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार।।

कवि के द्वारा ऑखों के सौंदर्य का वर्णन करना अभीष्ट है, न कि संख्य अलंकार का चमत्कार दिखाना। अतः ये स्थल चित्र काव्य के अंतर्गत नही आता।

आनंदवर्धन ने ध्वनि के तारतम्य के आधार पर संपूर्ण काव्य को प्रमुख तीन प्रकारों में विभाजित किया है, परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि काव्य चमत्कार की दृष्टि से केवल प्रथम प्रकार ही अन्य दो प्रकारों की तुलना में श्रेष्ठ है अथवा तृतीय उदाहरण अन्य दो प्रकारों की तुलना में निम्न कोटि के हैं और द्वितीय प्रकार के उदाहरण सदैव मध्यम श्रेणी के होंगे। इसे हम मात्र शास्त्रीय व्यवस्था कह सकते हैं।

ध्वनि तत्व तथा अन्य काव्य तत्व

आनंदवर्धन से पूर्व, अलंकार को काव्य का सर्वस्व तथा रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया था तथा इसके अतिरिक्त रस तत्व व वक्रोक्ति सिद्वॉत निरूपित किया जा चुका था। उक्त चारों काव्य तत्वों का ध्वनि के प्रति या ध्वनि का इनके प्रति किस प्रकार दृष्टिकोण रहा है, इसकी विवेचना निम्नलिखित हैं–

1. अलंकार और ध्वनि– अलंकारवादी आचार्यों ने ध्वनि शब्द का स्पष्ट प्रयोग तो नहीं किया है, परंतु उनके प्रतिवस्तुपमा, पर्यायोक्त अलंकारों से स्पष्ट होता है कि वे ध्वनि तत्व से परिचित थे। आनंदवर्धन ने अलंकार को शब्दार्थ का शोभाकारक धर्म माना है तथा चित्रकाव्य के अंतर्गत अलंकार समविष्ट हो जाता है।

2. रीति और ध्वनि– रीतिवादी आचार्य वामन ने ध्वनि का साक्षात् या प्रकारंतर से उल्लेख नहीं किया है, आनंदवर्धन ने वामन सम्मत रीतिवाद का विरोध तो नहीं किया है, लेकिन रीति के प्रति उनकी अवहेलना स्पष्ट दिखाई देती है। आनंदवर्धन के अनुसार, "ध्वनि जैसे अवर्णनीय काव्य तत्व को समझ सकने में असमर्थ लोगों द्वारा काव्यशास्त्रीय जगत में रीतियॉ चला दी गई।''

3. रस और ध्वनि– आनंदवर्धन ने रस को एक स्वतंत्र काव्य तत्व न मानकर ध्वनि का एक भेद असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि माना है तथा रस की महत्ता को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है।

4. वक्रोक्ति और ध्वनि– वक्रोक्तिवाद के प्रवर्तक कुतंक है। आपने ध्वनि के समस्त भेदों उपभेदों को वक्रोक्ति में समाविष्ट किया। वक्र से तात्पर्य रमणीयता, विदग्धता तथा कवि प्रतिभाजन्य होती है। इसमें मुख्य बात यह है कि वक्रोक्ति का कवि व्यापार एवं कवि प्रतिभा से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। कवि व्यापार क्या है, इस विषय में कुंतक मौन है, कुतंक इसे अनिवर्चनीय मानते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार ध्वनि के तारतम्य के अनुसार ध्वनि काव्य, गुणीभूतव्यंग्य काव्य और चित्र काव्य हैं। उक्त तीनों में संपूर्ण काव्य समाहित हो जाता है। आनंदवर्धन के अनुसार, ध्वनि काव्य का व्यापक तत्व होने के साथ–साथ आंतरिक तत्व भी है। इसलिए ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है। आपने रस को ध्वनि काव्य का एक भेद माना है और पूर्ववर्ती आचार्यों के समान गुण, रीति तथा अलंकार का स्वरूप प्रस्तुत न कर, रस को केन्द्र मानकर इन्हें नूतन रूप में प्रस्तुत किया है। अतः आपने ध्वनि के माध्यम से काव्यशास्त्र के भविष्य को नवीन मार्ग प्रदान किया है।

संदर्भ सूची :–

1. https://www. Hindimerijaan.com/ dhwani- ke
2. https://www.hindisahity.com/dhavni
3. https://cdtripathi.blogspot.com

■■

(15)
हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

बाल किशोर राम भगत

हिन्दी का आलोचना शब्द अंग्रेजी के 'Criticism' शब्द का पर्यायवाची है। इसकी व्युत्पत्ति 'लुच' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है– देखना। आजकल अंग्रेजी शब्द 'Criticism' के लिए हिन्दी में दो अन्य शब्द भी प्रचलित हैं– समालोचना और समीक्षा। समालोचना का अर्थ है– सम अर्थात् सांगोपांग या सम्यक देखना, जानना, पहचानना या परखना, संतुलित दृष्टि से साहित्यिक कृति के गुण–दोषों को परखना। समीक्षा का अर्थ भी इसी से मिलता–जुलता है– सम़ईक्षा अर्थात् सम्यक दर्शन करना और उसके बाद सांगोपांग विवेचन करना। अंग्रेजी शब्द 'Criticism' की मूल धातु crites है। इसका अर्थ है– अलग करना, निर्णय करना, दोष–दर्शन करना और मूल्यांकन करना। इस प्रकार देखना, सम्यक देखना, दोष देखना, निर्णय करना आदि का भाव इन शब्दों से स्पष्ट होता है। साहित्यिक आलोचना लेखक और पाठक के बीच की श्रृंखला है। यह साहित्यिक कृति के गुण–दोषों का निर्णय कर उसका मूल्यांकन करती है। यह केवल दोष–दर्शन नहीं है, यह अपने व्यापक संदर्भ में मन का अवबोध ान भी करती है और प्रसादन भी करती है। यह कार्य रचना के सूक्ष्म

* जन्म : 06 अगस्त 1970, माता : श्रीमती बत्ती भगत, पिता : श्री पेयन्दर राम भगत, योग्यता : एम ए (हिन्दी, समाज शास्त्र), बी. एड्., स्टेनो, सम्प्रति : सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), के. एम. टी. शासकीय कन्या महाविद्यालय, रायगढ़ (छत्तीसगढ़). मो. नं. : 9981634746, 7999711354, Email : kishorebhagat884@gmail.com

अध्ययन, सम्यक विवेचन, गुण–दोष के निरपेक्ष कवि कर्म को प्रत्येक दृष्टिकोण से मूल्यांकित करके उसे पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करती है, पाठक वर्ग का रूचि–परिष्कार करती है और साहित्य की गतिविधि ा का निर्धारण करती है। आलोचक समाज का प्रतिनिधि बनकर कृति को देखता है। समाज को उसके मूल्यांकन तथ्यों से परिचित कराता है और लोकहित की दृष्टि से उसका मूल्यांकन कर लेखक को भी दिशानिर्देश करता है। पश्चिम में 'ब्तपजपबपेउ' शब्द का विधिवत प्रयोग तो सत्रहवीं शती से ही आरंभ हुआ, परन्तु साहित्यालोचन के सिद्धांतों की स्थापना ईशा पूर्व पाँचवी शती से ही आरंभ हो गई थी।

आलोचना की परिभाषा

आलोचना की परिभाषा भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा दी गई है, जो निम्नवत है–

1. आचार्य श्याम सुन्दर दास– ''यदि साहित्य को जीवन की व्याख्या माने, तो आलोचना को व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।''

2. महावीर प्रसाद द्विवेदी– ''समालोचक का कर्त्तव्य है कि वह इस बात पर विचार करे कि किसी पुस्तक या प्रबन्ध उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को भी लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नयी बात लिखी है या नहीं, यही विचारणीय विषय है।''

3. आई. ए. रिचर्ड्स के अनुसार– ''आलोचना साहित्यिक अनुभूति के विचारोपरान्त उनका सम्यक् विवेचन करती है।'' "To set up a critic is to set up as a judgement of value."

4. कॉलरिज के अनुसार– ''आलोचना का उद्देश्य साहित्य निर्माण के नियमों का निश्चितीकरण है, न कि निर्णयात्मक नियमों का संकलन तैयार करना।''

5. एडीसन के अनुसार– ''आलोचक का धर्म कलाओं के दोष

निकालना नहीं, बल्कि कृति का सौन्दर्योद्घाटन करना है।''

6. ड्राइडन के अनुसार– ''आलोचना वह कसौटी है, जिसकी सहायता से किसी रचना का मूल्यांकन किया जाता है। वह उन विशेषताओं का लेखा–जोखा प्रस्तुत करती है, जो साधारणतः किसी पाठक को आनंद प्रदान करती है।''

7. सेल्सबरी के अनुसार– ''साहित्यिक सुरूचि के तर्कपूर्ण प्रयोग का नाम ही आलोचना है और यह साहित्य का परीक्षण कर उसके श्रेष्ठ एवं आनंदमयी तत्वों की ओर संकेत करती है।''

8. कारलायल के अनुसार– ''किसी साहित्यिक कृति का व्यक्ति के मन पर जो प्रभाव पड़ता है उसे व्यक्त करना ही आलोचना है।''

9. हडसन के अनुसार– ''समीक्षा के द्वारा पाठक रचयिता की विशाल चित्तभूमि का भागीदार बन जाता है।''

10. सी. टी. विंचैस्टर के अनुसार– ''आलोचना को व्यापक रूप में एवं अस्थायी रूप में किसी कलाकृति की बुद्धिमत्तापूर्ण अनुशंसा करना कहा जा सकता है, जिसके परिणामस्वरूप उसके मूल्य और पद का न्यायपूर्ण निर्धारण हो सके।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि इस शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में हुआ है। कहीं तो इसका प्रयोग दोष–दर्शन के रूप में हुआ है, कहीं सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण के रूप में। विभिन्न विद्वानों के विचारों को समाहित कर परिभाषा के रूप में यह कहा जा सकता है कि ''आलोचना वस्तु के अन्तर्बाह्य का उसके सम्पूर्ण ऐतिहासिक संदर्भ में वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या, परीक्षा और मूल्यांकन का प्रयास है, जिससे सिद्धांत निर्माण हो, मूल्य और पद का निर्णय हो, सद् और असद् का विवेक पैदा हो और पाठक का भी रूचि–परिष्कार सम्भव हो सके।''

हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

साहित्यकारों ने आलोचना के वर्गीकरण के अनेक आधार प्रस्तुत किए हैं। कुछ लेखकों ने आलोचना के विषय के आधार पर वर्गों में बाँटने के सिद्धांत बनाये; जिसके फलस्वरूप दर्शन, अर्थशास्त्र, व्याकरण, जीवन–शास्त्र इत्यादि के आधार पर आलोचना की पद्धतियाँ निर्धारित की जा सकती थी और दार्शनिक आलोचना, अर्थशास्त्रीय आलोचना, व्याकरणात्मक आलोचना इत्यादि वर्ग बन सकते थे। कुछ विद्वानों ने देश के नाम के आधार पर आलोचना के वर्गीकरण का नियम बनाया, जिसके अनुसार अंग्रेजी समीक्षा, अमरीकन समीक्षा, रूसी समीक्षा तथा फ्रांसीसी समीक्षा पद्धतियों का नामकरण हुआ। वास्तव में उपरोक्त दोनों ही आधार अनुपयुक्त तथा निरर्थक थे। अंततः श्रेष्ठ विचारकों ने आलोचना का वर्गीकरण, प्रणालियों या पद्धतियों के आधार पर किया। इस सिद्धांत के आधार पर सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक, शास्त्रीय, निर्णयात्मक, वैज्ञानिक, तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिवादी, प्रगतिवादी आदि आलोचना पद्धतियों/प्रवृत्तियों का जन्म हुआ।

वस्तुतः हिन्दी आलोचना की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए इसके दो मुख्य भेद हैं–

(क) सैद्धांतिक आलोचना और (ख) व्यावहारिक आलोचना।

(क) सैद्धांतिक या शास्त्रीय आलोचना

सैद्धांतिक आलोचना में अनुगम विधि का अनुसरण करते हुए युगीन साहित्य के आधार पर साहित्य संबंधी सामान्य सिद्धांतों की स्थापना का प्रयास किया जाता है। भारत में भरत के 'नाट्यशास्त्र' की रचना हुई और यूनान में अरस्तु का 'काव्यशास्त्र' रचा गया। इन ग्रंथों में साहित्य सिद्धांतों की स्थापना हुई, जिन्होंने शास्त्रवाद की परम्परा की नींव डाली। इस पद्धति के आधार पर साहित्य रचना संबंधी आधारभूत सिद्धांतों और नियमों का निर्माण किया गया। रीतिग्रंथ, लक्षण ग्रंथ, काव्यशास्त्र आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।

पाश्चात्य समीक्षकों और भारतीय आचार्यों ने इस समीक्षा पद्धति का व्यापक प्रयोग किया है। प्लेटो, अरस्तु, कालरिज, एडीसन, वड्र्सवर्थ, रिचड्र्स, क्रोचे, इलियट आदि ने पाश्चात्य जगत तथा भारतवर्ष में भरतमुनि, मम्मट, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, पंडित राज जगन्नाथ आदि ने तथा आधुनिक काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र, बाबू गुलाब राय तथा श्यामसुन्दर दास ने इस समीक्षा पद्धति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह समीक्षा पद्धति अपने प्रभाव और उपयोगिता के कारण आज भी व्यवहार में आ रही है।

यह समीक्षा पद्धति बहुत गम्भीर होती है। यूरोप और भारत में प्राचीन काल में अधिकांश समीक्षा ग्रंथ इसी पद्धति से लिखे गये हैं। इसी कारण इसे समीक्षा का चिरन्तन स्वरूप माना गया है। इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसमें समस्त काव्यांग, काव्यतत्व, काव्यहेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य भेदोपभेद, काव्य लक्षण, काव्य स्वरूप, काव्य–प्रक्रिया, काव्यत्रिकोण ;कवि, समीक्षक, पाठकद्ध काव्य पद्धतियाँ, काव्य शिल्प, काव्य–साहित्य विषयक वाद–प्रवाद इन सबका अंगभूत, स्वतंत्र समाविष्ट रहता है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में विकसित विविध विधाओं के शास्त्र को भी सैद्धांतिक आलोचना की कोटी में रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्य की नव विकसित धारा से रचनाकारों के दृष्टिकोणों को भी इसी आलोचना के अन्तर्गत रखा जाएगा। जैसे– नयी कविता, नई कहानी, सहज कहानी, समकालीन कहानी, आंचलिक कहानी, आंचलिक उपन्यास, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि। इसे सुविधानुसार तीन धाराओं में विभक्त करके देखा जा सकता है–

1. प्राचीन काव्य शास्त्रीय धारा

इस धारा के समीक्षकों ने संस्कृत काव्यशास्त्र की रूढ़िवादी परम्परा का अनुशरण किया। रीतिकालीन दरबारी वातावरण में काव्यशास्त्र पर जो ग्रंथ लिखे गये थे, उनमें श्रृंगार रस और

चमत्कारी अलंकारों का ही बाहुल्य रहा। समस्त हिन्दी काव्यशास्त्र, संस्कृत साहित्यशास्त्र के अंधानुकरण पर निर्मित किया गया था और उनके विवेचन में नवीन उद्‌भावनाओं का पूर्णतया अभाव रहा। इस प्रकार के आलोचना ग्रंथों में कविराज मुरारिदान धारण का 'जसवंतजसो भूषण', सेठ कन्हैयालाल पोद्‌दार का 'काव्यकल्पद्रुम', भगवानदीन की 'अलंकार मंजुषा', डॉ. रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'अलंकारपीयूष', अर्जुनदास केडिया का 'भारतीभूषण', पं. रामदीनमिश्र का 'काव्यदर्पण' आदि सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथों में समीक्षोचित् शास्त्र दृष्टि एवं वस्तुपरक स्वच्छ विषय– प्रतिपादन शैली आदि गुण दृष्टव्य हैं। इसी प्रकार पं. विश्वनाथ मिश्र का वाङमय–विमर्ष और बलदेव उपाध्याय द्वारा रचित 'भारतीय साहित्यशास्त्र' अत्यंत उच्चकोटि की रचनाएँ हैं, जिसमें भारतीय साहित्य तत्व को समझने के लिए पाश्चात्य विचारधारा को भी प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में शोध स्तर के परम्परागत काव्य सिद्धांतों पर आधारित ग्रंथ हैं– डॉ. नगेन्द्र कृत 'रीतिकाव्य की भूमिका', डॉ. भागीरथ मिश्र कृत 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', डॉ. राकेश गुप्त कृत 'नाायक–नायिका–भेद', डॉ. सत्यदेव चौधरी कृत 'रीतिकाल के प्रमुख आचार्य', डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित कृत 'रस स्वरूप : सिद्धांत और विष्लेषण', डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी कृत 'लक्षणा का विषय विस्तार' एवं रसाल कृत 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास' आदि।

2. समन्वयवादी काव्यशास्त्रीय धारा

आधुनिक काल में भारतेन्दु के समय से हिन्दी के आलोचना क्षेत्र में एक नवीन परम्परा का सूत्रपात हुआ। भारतेन्दु और उनके समकालीन साहित्यकार प्राच्य और पाश्चात्य साहित्यालोचन के समन्वय के समर्थक थे। वे पाश्चात्य आलोचना के सिद्धांतों के साथ–साथ भारतीय आलोचना की परम्परा का ज्ञान तथा उसका रक्षण भी आवश्यक समझते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' नाम की एक पुस्तिका लिखी थी, जिसमें उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य

नाट्यशास्त्र दोनों को आधार बनाया था। नाटक की भूमिका में उन्होंने नाट्य–शास्त्र, साहित्य दर्पण, काव्य प्रकाश आदि ग्रंथों के साध–साथ विल्सन की 'हिन्दू थियेटर्स' तथा पाश्चात्य नाटक तथा रंग ग्रंथ पर लिखी गई कतिपय अंग्रेजी पुस्तकों का भी निर्देश किया। इस प्रकार अपनी इस छोटी–सी पुस्तक में उन्होंने भारतीय–पाश्चात्य तथा पुरातन–नवीन दोनों परम्पराओं को आधार बनाया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पश्चात जगन्नाथ दास रत्नाकर हिन्दी अनुवाद 'समालोचनादर्शक' एवं सैद्धांतिक आलोचना पर पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'विश्व साहित्य' पुस्तक उल्लेखनीय है।

द्वितीय उत्थान में रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना के सिद्धांतों पर देन विशेष रूप से विचारणीय है। तथ्य तो यह है कि हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी एक महान आलोचक हैं। उन्होंने संस्कृत तथा कतिपय पाश्चात्य समीक्षकों के मतों की व्याख्या करते हुए अपने निष्कर्षो की स्थापना की है। वे मूलतः रस सिद्धांत के पोषक थे, किन्तु उनकी रस मीमांसा में उनकी स्वानुभूति सदैव विद्यमान रहती थी। उन्होंने रसानुभूति को ब्रहानंद–सहोदर अथवा किसी अलौकिक आनंद के रूप में स्वीकार नहीं किया। वे अंग्रेजी के समीक्षक आई. ए. रिचर्ड्स से बहुत कुछ प्रभावित थे। शुक्ल जी के परवर्ती समीक्षकों में छायावादी कवि आते हैं। जयशंकर प्रसाद का 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पन्त की 'पल्लव की भूमिका', महादेवी की 'यामा' और 'दीपशिखा' की भूमिकाएँ तथा निराला की 'गीतिका' की भूमिका आदि सैद्धांतिक पक्ष पर गंभीर चिन्तन प्रस्तुत करती है।

आधुनिक युग में हिन्दी की सैद्धांतिक आलोचना की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, गुलाबराय, डॉ. नगेन्द्र, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी आदि आधुनिक हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ माने जा सकते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने साहित्य को सांस्कृतिक परम्परा का एक

अवयव मानकर उसकी ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय ढंग से व्याख्या की। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने साहित्यशास्त्र के सिद्धांतों का कम विवेचन किया है, उन्होंने अधिकांशतः व्यावहारिक आलोचना ही की है। वे भारतीय दृष्टिकोण से रसवादी हैं और पाश्चात्य दृष्टि से रोमांटिक साहित्य–शास्त्रवादी हैं। उनकी प्रमुख पुस्तक है– 'आधुनिक साहित्य'। डॉ. नगेन्द्र मनोविश्लेषणवादी समीक्षा के पोषक हैं। इनके 'विचार और विवेचन', 'विचार और अनुभूति', 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' आदि ग्रंथों में मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रकाश में साहित्य के क्षेत्र में श्रेष्ठ कार्य हुआ है।

3. स्वच्छंद काव्यशास्त्रीय चिंतन

छायावादी कवियों– प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा, डॉ. रामकुमार वर्मा, आदि अनेक कवियों ने काव्य के विविध पक्षों और तत्वों की स्वतंत्र रूप से अत्यंत सूक्ष्म विवेचना की है। डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त ने 'आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धांत' नामक शोध ग्रंथ में इन कवियों के स्वतंत्र शास्त्रीय चिंतन का विवेचन किया है। छायावादी कवियों ने जो चिन्तन किया है, वह हिन्दी की सैद्धांतिक समीक्षा के कोष को समृद्ध बनाने वाला है।

छायावाद के ह्रास के पश्चात् इस युग की सैद्धांतिक आलोचना के पर्यालोचन में प्रगतिवादी आलोचकों का नाम लेना अत्यंत आवश्यक है। डॉ. रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा अमृतराय ने हिन्दी समीक्षा को मार्क्सवादी मापदण्ड दिए हैं। प्रगतिवादी कवियों का योगदान भी स्मरणीय है। इन्होंने साहित्य सिद्धांत को अधिक पुष्ट और सजीव बनाया है। इसी प्रकार प्रयोगवादी, मनोविश्लेषणवादी कवियों और विचारकों ने भी जिनके वक्तव्य 'तार सप्तक', दूसरा सप्तक', 'तीसरा सप्तक' आदि में उपलब्ध है, एक भिन्न दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य की समीक्षा दृष्टि को गतिशील बनाने में योग दिया है। इसके अतिरिक्त जैनेन्द्र कुमार, नलिन

विलोचन शर्मा तथा अन्य अनेक विचारकों ने भी सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र में अपना योगदान दिया है।

शोध प्रबंधों के रूप में डॉ. भगवत स्वरूप का 'हिन्दी आलोचना : उद्‌भव और विकास', डॉ. रामदरस मिश्र की 'आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियाँ' तथा डॉ. वेंकट शर्मा का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास' उल्लेखनीय हैं।

(ख) व्यावहारिक आलोचना

व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत सैद्धांतिक आलोचना द्वारा निश्चित किए गए सिद्धांतों के आधार पर किसी कृति विशेष का विश्लेषण और मूल्यांकन किया जाता है। व्यावहारिक आलोचना का विकास हिन्दी में मुख्यतः पाश्चात्य प्रभाव के कारण हुआ। भारतेन्दु युग से आज तक का हिन्दी आलोचना का इतिहास पाश्चात्य प्रभाव की उत्तरोत्तर वृद्धि सिद्ध करता है। हिन्दी आलोचना की सभी पद्धतियाँ पाश्चात्य आलोचना की ऋणी हैं। पुस्तक समीक्षा, पाठालोचन, शोध कार्य आदि भी पाश्चात्य प्रभाव के कारण ही आ सके।

व्यावहारिक आलोचना कई रूपों में लक्षित होती हैं–

1. प्रभाववादी या व्यक्तिवादी आलोचना, 2. सौष्ठववादी आलोचना, 3. ऐतिहासिक आलोचना, 4. तुलनात्मक आलोचना, 5. मनोविश्लेषणवादी आलोचना, 6. सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना, 7. शैली वैज्ञानिक आलोचना, 8. समाजशास्त्रीय आलोचना, 9. निर्णयात्मक आलोचना, 10. व्याख्यात्मक आलोचना।

1. प्रभाववादी या व्यक्तिवादी–

आलोचना के इस वर्ग में शास्त्र और सिद्धांत की यदि प्रत्यक्ष अवहेलना या विरोध न भी हो, तो भी उसकी उपेक्षा अवश्य होती है। कुछ विद्वान तो इसे सिद्धांत–विरोधी समीक्षा कहते हैं, जिसमें शास्त्रीय मान्यताओं के स्थान पर व्यक्तिगत रूप, भावना और जीवनादर्श आदि को महत्व दिया जाता है। इसमें समालोचक

आलोच्य कृति की आलोचना करते समय अपनी भावनाओं के अनुसार ही निर्णय देता है। समीक्षक के मन पर पड़ी किसी रचना की अनुकूल–प्रतिकूल प्रतिक्रिया या प्रभाव व्यक्ति आधारित होने के कारण इसे आत्मप्रधान, प्रभावाभिव्यंजक, प्रभावात्मक या प्रभाववादी आलोचना भी कहा जाता है।

किसी बात को सुनकर, किसी सुन्दर वर्णन को पढ़कर अथवा किसी तथ्य को देखकर हममें स्वाभाविक हर्षोल्लास उत्पन्न होता है, जिसे अंग्रेजी में 'Intutive /response' कहते हैं। यदि एक आलोचक को सत्–असत् का विवेक है और साथ ही उसमें हर्षोल्लास की भावना है तो वह शीघ्र ही एक कलात्मक कृति को सम्यक् रूप से हृदयंगम करने की चेष्टा करता है और अन्त में अपना निर्णय दे डालता है। इस आलोचना पद्धति का आदर्श क्रम रहता है– सहज, आन्तरिक प्रतिक्रिया, कृति का स्वेच्छापूर्वक ज्ञान और अन्त में मूल्यांकन। साहित्य के इतिहास में यह क्रम बदला हुआ मिलता है। प्राचीनकाल में हमें नैतिक मूल्यांकन सबसे पहले मिलता है और विवेक पूर्ण साधनों का विकास बाद में हुआ मिलता है।

छायावादी कवियों के काव्य संग्रहों की भूमिकाओं में इसी प्रकार की समीक्षा पद्धति की हल्की–सी झलक दिखाई पड़ी थी। नन्द दुलारे वाजपेयी और गंगाप्रसाद पाण्डेय की कुछ समीक्षाओं में भी इसका प्रभाव मिलता है। किन्तु इस पद्धति का सर्वाधिक सशक्त और एकमात्र उल्लेखनीय समीक्षक शांतिप्रिय द्विवेदी को ही माना जा सकता है। उन्होंने इस शैली में विभिन्न नई पुरानी रचनाओं, काव्य धाराओं, काव्य शास्त्रीय मान्यताओं संबंधी अनेक निबंध लिखे थे, जो उनके विभिन्न निबंध संग्रहों में संग्रहित है। इस पद्धति में विचार की अपेक्षा भावात्मकता अधिक रहती है। इसलिए यह पढ़ने में तो अच्छी लगती है, किन्तु पाठकों को प्रभावित कर उनमें वैचारिक उत्तेजना नहीं उत्पन्न कर पाती।

शुक्ल जी ने प्रभाववादियों की इसी बात का उत्तर देते हुए कहा था– ''कहने की आवश्यकता नहीं कि इस मत के अनुसार समालोचना एक व्यक्तिगत वस्तु है। उसके औचित्य–अनौचित्य पर किसी का कुछ विचार करने की जरूरत नहीं। जिस प्रकार जैसा प्रभाव पड़े, वह वैसा कहे।... उक्त प्रभाववादियों की बात लें तो समालोचना कोई व्यवस्थित शास्त्र नहीं रह गया। वह एक कला की कृति से निकली हुई दूसरी कला की कृति, एक काव्य से निकला दूसरा काव्य ही हुआ।..... प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक–ठीकाने की वस्तु नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है।''

डॉ. भागीरथ मिश्र ने लिखा है कि ''यह आलोचना का बड़ा ही स्वच्छंद रूप है। उसमें आलोचक किन्हीं भी नियमों में बँधकर चलना नहीं चाहता। वह कृति के अध्ययन के बाद अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव का मौज पूर्वक विश्लेषण करता है। उसकी भावपूर्ण शैली होती है। आलोचना का यह रूप व्यक्तिगत होता है, अतः कृति के मूल्य निध ार्ारण और पाठक के मार्ग निर्देशन एवं ज्ञानसंवर्धन में इसका अधिक योग नहीं रहता। इसमें आलोचना से अधिक रचनात्मक विशेषताएँ रहती हैं। प्रभावात्मक आलोचना का एक उदाहरण द्रष्टव्य है– ''वाह रे अन्धे कवि सूरदास, तुमने क्या कमाल किया है। तुमने वह रूप और भाव सौन्दर्य अपनी बन्द आँखों से देख लिया जो लोग अपनी खुली आँखों से भी नहीं देख पाते। राधा और गोपियों का रंग–विलास हृदय में एक गुदगुदी पैदा करता है और नटखटराज कृष्ण, तुम धन्य हो। तुम्हारी लीला का पार कौन पा सकता है? यह सब सूर का कमाल है। सूर के काव्य के आगे तो अमृत भी फीका लगता है।''

डॉ. श्याम सुन्दर दास ने लिखा है कि ''ज्यों–ज्यों साहित्य में व्यक्ति प्रधानता बढ़ती जाएगी, त्यों–त्यों इस प्रकार की आलोचना का भी आधिपत्य होता जाएगा। आज यह भविष्यवाणी सत्य हो रही है। प्रयोगवादी समीक्षकों ने इसी आलोचना पद्धति को अपनी साधना का

केन्द्र बनाया है।''

प्रभावात्मक आलोचना करने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में नहीं पाई जा सकती। इसके लिए तीव्र संवेदनशीलता, चित्त की गतिशीलता, भावानुभूति तथा कल्पनाशक्ति आदि विशेष गुण अपेक्षित हैं। प्रभावात्मक आलोचना पद्धति का महत्व असन्दिग्ध है, क्योंकि इसके द्वारा हम साहित्य की शक्ति पहचानने में समर्थ हो सकते हैं और वह हमें नवीन कलात्मक चेतना को जन्म दे सकती है।

2. सौष्ठववादी आलोचना–

सौष्ठववादी समालोचक भावों के उदात्त और उनकी साहित्यिक मार्मिकता के दर्शन कर लेता है। इस प्रकार का चित्रण उसकी प्रौढ़ क्षमता और भाव पारदर्शिता का परिचायक है। जब आलोचक कवि के भाव–सौंदर्य की वास्तविकता और उदात्त मार्मिकता का उद्घाटन करता है, तब वह स्वयं तो असीम और अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव करता है, साथ ही पाठक को भी अपने साथ उस भाव–भूमि में ले जाता है। यही सौष्ठववादी आलोचक की पूर्ण सफलता है। वह कवि के भाव सौन्दर्य के मार्मिक उद्घाटन में कवि का व्यक्तित्व भी उद्घाटित कर देता है। साथ ही भावों की मार्मिकता और अनुभूति के चित्रण में आलोचक को विलक्षण आनंद का अनुभव होता है।

हिन्दी की सौष्ठववादी आलोचना पद्धति रस–सिद्धांत के व्यापक और विषद स्वरूप को अपनाकर चली है, इसलिए वह पश्चिम के स्वच्छन्दवादी की तरह पूर्ण स्वच्छन्दवादी नहीं कही जा सकती। उसका अविकल अनुकरण तो किसी प्रकार भी नहीं कही जा सकती। रस की जो प्रतिष्ठा अभिनवगुप्त, मम्मट, आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि द्वारा हुई है, वह सौष्ठववादी समीक्षा के ही समर्थक है। सौष्ठववादी समीक्षक रस को ही काव्य का प्राणभूत तत्व मानता है तथा काव्य सृजन द्वारा आत्मप्रकाशन से आनंदानुभूति को ही कवि का उद्देश्य मानता है। इनकी धारणा के अनुसार कवि स्वान्तः सुखाय लिखता है। इस प्रकार सौष्ठववादी समीक्षकों ने रस

के संबंध में एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया।

अलंकारों के संबंध में सौष्ठववादी समीक्षकों का दृष्टिकोण भिन्न है। वे अलंकारों को रस सिद्धि का साधन मात्र मानते हैं। अलंकार शब्द से उनका तात्पर्य उसके बंधे हुए प्रकारों से ही प्रतीत होता है, शब्द की भंगिमा से नहीं। 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' के पृ. 68 के अनुसार, सौष्ठववादियों की धारणा है कि उत्कृष्ट कविता में अलंकार वही कार्य करते हैं जो दूध में पानी। सौष्ठववादियों के अलंकार संबंधी दृष्टिकोण का अभिनवगुप्त विश्वनाथ आदि रस–ध्वनिवादी आचार्यों के मतों से पूर्ण सामंजस्य है।

सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति के निर्माण में छायावादी कवि और उनके काव्य का महत्वपूर्ण योग रहा है। ये छायावाद की नूतन कल्पना–छवियों, भावों और भाषारूपों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए हैं।

डॉ. सुधाकर कलवडे ने सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति के संदर्भ में लिखा है– ''इसमें आलोचक मूल्यांकन करने का प्रयास नहीं करता, बल्कि तटस्थ होकर अपनी स्वच्छन्द अनुभूतियों को आलोचना के क्षेत्र में उतारने का प्रयास करता है। स्वच्छन्दता और सौष्ठव इसके प्रमुख तत्व हैं और छायावादी विशेषताओं के आधार पर इसके मापदण्ड के तत्वों का निर्माण हुआ है। आलोचक मुक्त शैली में सूक्ष्म सौन्दर्य देखने का प्रयास करता है और कलाकृति की समीक्षा सौन्दर्य तत्व के आधार पर की जाती है। इसमें कला को वैज्ञानिक, व्यावहारिक एवं नैतिक जगत से सर्वथा स्वतत्र माना जाता है। सौन्दर्यानुभूति से उत्पन्न होने वाला आनंद ही काव्य की कसौटी है।''

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति ने हिन्दी समीक्षा को एक नया रूप प्रदान कर उसे विकास के पथ पर आगे बढ़ाया था। इसने रूढ़ि और शास्त्रीयता की उब और रूखेपन को दूर करने में अपना ऐतिहासिक योग प्रदान किया था।

आलोचना का यह नया रूप अधिक प्रांजल, प्रखर और व्यापक धरातल पर स्थित था। इन छायावादी कवि–आलोचकों की आलोचना का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कल्पनाजीवी सुकुमार कलाकार ही नहीं, अपितु विचार की ठोस भूमि पर कितनी गंभीर दृष्टि रखने वाले जीवन–साहित्य के समालोचक भी हैं। यह सत्य है कि इस समीक्षा पद्धति का यथोचित विकास और अनुगमन नहीं हो पाया, फिर भी इसने साहित्य को देखने और समझने की जो नई दृष्टि प्रदान की थी, वह अन्तः सलिला के समान आज भी हमारी समीक्षा के अन्तस्तल में प्रवाहित होती रही है। आज भी इसका प्रभाव बना हुआ है।

3. ऐतिहासिक आलोचना–

जैसा नाम से ही स्पष्ट है, यह आलोचना पद्धति कृति के मूल्यांकन, विवेचन और विश्लेषण के लिए पूर्वकाल और समकाल के समय इतिहास और ऐतिहासिक शक्तियों को आधार बनाती है। किसी काल विशेष के समाज, दर्शन, अर्थव्यवस्था, जीवन पद्धति, परम्परा, रूढ़ि, शिक्षा आदि की पृष्ठभूमि में ही उस युग में रचित साहित्य को देखने–परखने का प्रयास किया जाता है। इस पद्धति के अनुसार साहित्य को समाज का दर्पण माना जाता है और समाज को ऐतिहासिक प्रक्रिया की अनिवार्य परिणति। आधुनिक काल में इस पद्धति का स्वतंत्र अथवा आधार रूप में हर प्रकार की मानवीय क्रिया के मूल्यांकन में महत्व बहुत बढ़ गया है।

प्राचीन काल से ही सब महान लेखकों और विचारकों ने किसी–न–किसी रूप में युग और प्रभावों को किसी भी विचार अर्थात सृजन को रूपाकार देने के लिए महत्वपूर्ण माना ही है। होमर से इलियट तक के विद्वान साहित्य के सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियों से सम्बद्ध होने और प्रभावित होने के तथ्य को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि किसी भी जाति की जीवन्त परम्परा अविच्छिन्न होने पर भी हर युग में उसमें कुछ–न–कुछ परिवर्तन और भेद

अनिवार्य होते हैं। युगीन परिस्थितियाँ लेखक की विचारधारा और जीवन–दृष्टि को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में अवश्य प्रभावित करती है। अतः हर युग परिवर्तन के अनुकूल आलोचना के मूल्यों, आधारों और उसकी पद्धतियों में भी परिवर्तन अनिवार्य होता है। ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली के अनुसार पूर्वकाल की अपेक्षा विवेच्य काल में राजनीतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक और शैक्षिक क्षेत्रों में क्या–क्या परिवर्तन हुए, इनका आकलन आवश्यक होता है। इन परिवर्तनों का युगमन पर क्या प्रभाव हुआ, यह देखना भी महत्वपूर्ण होता है।

आधुनिक काल में जो आलोचना पद्धति सर्वाधिक लोकप्रिय हुई है और जिसने विशेष प्रगति की है, उसे हम ऐतिहासक आलोचना पद्धति के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। इस पद्धति को अनेक प्रसिद्ध आलोचकों ने बिना संशोधन के पूर्णतः अपना लिया है और इसी की सहायता से आधुनिक आलोचना जगत में नवजीवन का संचार भी हुआ है।

इस पद्धति में किसी कृति की आलोचना युगीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए की जाती है। यह देखा जाता है कि तत्कालीन युग में सामाजिक स्थिति क्या थी, साहित्यिक विचारधारा किस ओर जा रही थी, साथ ही साथ युग विशेष की राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति कहाँ तक सामूहिक रीति से साहित्य पर और उस व्यक्ति पर प्रभाव डाल सकी आदि बातों का विवेचन भी ऐतिहासिक आलोचना में रहता है। इसके अन्तर्गत इस बात की खोज पर बल रहता है कि युग और साहित्य परस्पर किस रूप में सम्बद्ध है और एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। तात्पर्य यह है कि ऐतिहासिक आलोचना में युग चेतना की पृष्ठभूमि को सर्वोपरि महत्व दिया जाता है और यह ठीक भी है। दो सौ वर्ष पूर्व की रचनाओं को यदि हम आधुनिक संदर्भ में मूल्यांकित करेंगे, तो अवश्य गलती कर बैठेंगे। मध्यकालीन काव्य रचनाएँ आज भले ही न रूचे, पर उनमें से कुछ अपने समय की अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाएँ थी। अतः हमें उनका

मूल्यांकन उसी युग के संदर्भ में करना चाहिए।

पाश्चात्य आलोचना का हिन्दी आलोचना पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्य आलोचकों में ऐतिहासिक आधार को महत्व देने वालों में सेंट वफ और तेन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सेंट वफ के अनुसार किसी भी लेखक की कृतियों का अध्ययन करने से पहले स्वयं लेखक के विषय में जानकारी प्राप्त कर लेना वांछनीय है। आलोचक को चाहिए कि वह लेखक के जीवन का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करे और उसके चरित्र के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर ले, तभी वह उस लेखक की कृतियों का सही तौर से अध्ययन करने में सफल हो सकेगा। सेंट वफ के अनुसार आलोचक का वैज्ञानिक होना नितांत आवश्यक है, क्योंकि तभी वह लेखक के जीवन से संबंधित ऐतिहासिक तथ्यों को जान सकेगा और उसके व्यक्तित्व की झाँकी पा सकेगा। दूसरे पाश्चात्य विद्वान तेन भी वफ की भांति लेखक की जीवनी का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने के पक्ष में अपनी सम्मति देता है। किन्तु वह लेखक को समाज में क्रियाशील शक्तियों से पृथक नहीं मानता। उसकी यह मान्यता है कि लेखक का समस्त जीवन, जिसकी अभिव्यक्ति उसकी कला में होती है, सामाजिक शक्तियों की उपज है। अतः तेन कहता है कि लेखक की कलाकृतियों को समझने के लिए आलोचक को चाहिए कि वह लेखक की जाति, परिस्थिति तथा युग का अध्ययन करे। ये तीन तत्व लेखक के जीवन निर्माण के लिए आवश्यक होते हैं। प्रथम, जाति से तात्पर्य उन सब जन्मजात प्रवृतियों से है, जिन्हें व्यक्ति अपने साथ विशेष जाति का होने के नाते लाता है। संसार भर में फैली हुई विविध जातियों के अपने–अपने पृथक संस्कार होते हैं। दूसरी, परिस्थिति है। मनुष्य की प्रवृतियों के निर्माण में जितना जाति का महत्व होता है, उतना ही बाह्य परिस्थिति का। अतः लेखक या कवि की सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन भी आवश्यक है। विभिन्न देशों में रहने वाले आर्य लोगों की भौतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ

एक–सी नहीं है। तीसरे, लेखक या कवि के युग का अध्ययन है। ऊपर के दो तत्व ही हमें बहुत कुछ लेखक के विषय में बता देते हैं, जिससे उनकी कृतियों के अध्ययन का कार्य सरल हो जाता है। तुलसीदास की जाति तथा उनकी भौतिक तथा सामाजिक परिस्थतियों के विषय में जान लेने से ही हमें उनके व्यक्तित्व का अच्छा आभास हो जाएगा। किन्तु साथ ही हमें यह भी जानना आवश्यक हो जाता है कि तुलसीदास किस युग में उत्पन्न हुए थे। किसी भी लेखक के व्यक्तित्व तथा कलाकृतियों पर उसके युग की अमिट छाप होती है। यदि तुलसीदास अपने युग में उत्पन्न न होकर आज हमारे मध्य में होते तो उनकी कलाकृतियों का आज दूसरा ही रूप होता। इसी प्रकार शेक्सपियर, एलिजाबेथ के समय का न होकर आज के युग का होता तो नाटकों का रूप दूसरा ही होता। अतः तेन के अनुसार ये तीनों तत्व– जाति, परिस्थिति और युग, मनुष्य को प्रभावित करते हैं और किसी लेखक को समझने के लिए आलोचक को चाहिए कि वह लेखक से संबंधित इन तीनों तत्वों का पूरा ज्ञान प्राप्त करे।

ऐतिहासिक आलोचना का किसी भी कवि या कृति के मूल्यांकन में बहुत बड़ा महत्व होता है। इस आलोचना प्रणाली ने साहित्य की विशेष प्रगति की और जो साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से लिखे गये उनके पाठक वर्ग का बहुत अधिक उपकार हुआ। ऐतिहासिक समीक्षकों में मुख्यतः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामकुमार वर्मा, डॉ. भागीरथ मिश्र आदि आते हैं। आचार्य द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', 'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास' आदि ग्रंथों के द्वारा हिन्दी के कवियों पर नूतन आलोक प्रस्तरित करते हुए अनेक नूतन स्थापनाएँ की। डॉ0 भागीरथ प्रसाद मिश्र ने 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' एवं 'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास' के द्वारा हिन्दी इतिहास को स्पष्ट किया है।

पाश्चात्य समीक्षक आर्नाल्ड ने ऐतिहासिक आलोचना को कोई महत्व नहीं दिया, क्योंकि इसमें बाह्य परिस्थितियों एवं प्रभाव के

तत्वों के आधार पर किसी कृति की आलोचना की जाती है। ऐतिहासिक परिस्थितियाँ सदैव परिवर्तनशील होती हैं। अतः उनके द्वारा किया गया मूल्यांकन स्थायी और स्थिर नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए नवजागरण काल की लिखी गई राष्ट्रीय कविताएँ, सन 1962 में चीन के आक्रमण के समय लिखी गई कविताएँ युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं, किन्तु संदर्भ बदल जाने के बाद वे गौण हो जाती हैं। कभी–कभी आलोचक ऐतिहासिक महत्व की स्थापना के धुन में यह भूल जाता है कि रचना का काव्योचित मूल्य क्या है? अतः इस आलोचना का दृष्टिकोण सीमित है।

4. तुलनात्मक आलोचना–

तुलनात्मक आलोचना को अंग्रेजी में कम्पेरेटिव क्रिटिसिज्म (Comparative criticism) कहा जाता है। साहित्यिक प्रभावों की खोज करना अर्थात किसी रूप अथवा शैली पर किसी विशेष साहित्य का प्रभाव खोजना इस प्रणाली का मूल उद्देश्य है। इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं, विचारों और प्रकारों की दृष्टि से भी तुलना रहती है। वस्तुतः तुलनात्मक प्रणाली में व्युत्पति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस कार्य की पूर्ति के लिए आलोचक विभिन्न देशों–कालों की मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रगति का अवलोकन करता है। एक ही देश की विभिन्न साहित्यिक धाराओं का अध्ययन करना उसके लिए अभीष्ट होता है।

तुलनात्मक अध्ययन की प्रक्रिया को निम्न प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है–

1. एक ही साहित्य के अन्तर्गत तुलनात्मक अध्ययन,
2. एक साहित्य का अन्य साहित्यों पर प्रभाव,
3. दो या दो से अधिक साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन,
4. दो काव्यों की प्रवृत्तियों की तुलना,

5. एक ही युग के दो कवियों की तुलना,

6. विभिन्न युगों के कवियों की तुलना,

7. अलग–अलग भाषाओं के दो कवियों की तुलना,

8. एक ही कवि की दो कृतियों की तुलना,

9. एक ही भाषा की एक ही विधा की विविध रचनाओं की तुलना।

तुलनात्मक आलोचना के साहित्य, अभिव्यंजना का साधन मात्र ही नहीं, प्रयुक्त मनुष्य के भावों–विचारों का प्रतिबिम्ब या प्रतीक है और सामाजिक चेतना का दर्पण है। शोध कार्य में तुलनात्मक समीक्षा पद्धति का विशेष उपयोग एवं महत्व स्वीकार किया जाता है। एक साहित्य के अन्तर्गत शोधार्थियों ने अनेक तुलनात्मक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किये हैं। जैसे– 'गोस्वामी तुलसीदास के प्रबन्ध और प्रगीत काव्य पर तुलनात्मक अध्ययन', (रमेश कुमार वाजपेयी–सागर 64), 'कबीर और दादू के साधनात्मक सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन' (देवनाथ–कांशी–72), 'संतों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन' (सुदर्शन मजीठिया, नागपुर–60), 'नाथ और संत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' (नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, काशी–61), 'जयशंकर प्रसाद और लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन' (शशि शेखरानंद मैथानी, सागर–67), 'कबीर और जायसी के रहस्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन' (गोविन्द त्रिगुणायत), 'रामकथा के पात्रों के चरित्र का तुलनात्मक अध्ययन' (बाल्मीकि, तुलसी एवं मैथिलीशरण गुप्त के संदर्भ में) (राजुरकर मराठवाड़–70)।

तुलनात्मक आलोचना का मुख्य उददेश्य साहित्यिक प्रभावों का अनुसंधान है और इस सिद्धांत के अन्तर्गत समीक्षक, साहित्य तथा उसकी अनेक शैलियों पर किसी एक लेखक का व्यापक प्रभाव स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणार्थ इस वर्ग के आलोचकों को महाकाव्य परम्परा पर तुलसीदास का, गीत–काव्य परम्परा पर जयदेव

का, आधुनिक नाट्य परम्परा पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रभाव हृदयगंम करना अपेक्षित होगा। तुलनात्मक अध्ययन दो या दो से अधिक साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन में भी विकासात्मक अथवा ऐतिहासिक पद्धति का विशेष योग रहता है। हिन्दी का अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से संभवतः सबसे अधिक तुलनात्मक अध्ययन हुआ है। इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन से भारत की सांस्कृतिक और साहित्यिक एकता की अनुभूति को बल मिलता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि तुलनात्मक अध्ययन तुलनीय साहित्यों के नवीन मूल्यांकन के मार्ग को प्रशस्त करता है। मूल्यांकन के लिए नवीन और व्यापक परिप्रेक्ष्य मिलता है। इसमें रसास्वादन की प्रक्रिया भी विस्तृत होती है।

तुलनात्मक अध्ययन हिन्दी के साथ गुजराती, मराठी, पंजाबी, कश्मीरी और इसी प्रकार हिन्दी के साथ तेलगु, कन्नड़, मलयालम और तमिल आदि के साहित्य का हुआ है। उदाहरण के रूप में 'हिन्दी और मराठी संत कवियों का तुलनात्मक अध्ययन' (मालती श्रीखंड, सागर–60), 'हिन्दी और मराठी का निर्गुण काव्य' (प्रभाकर माचवे, आगरा), 'हिन्दी और गुजराती संतकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन' (कुंजबिहारी लाल, मुम्बई–64), 'राजस्थानी और गुजराती लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन' (जगमल सिंह महरोट, राजस्थान–71) आदि को लिया जा सकता है।

इसी प्रकार हिन्दी और द्रविड़ भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर भी बहुत अधिक शोध कार्य हुआ है। उदाहरण– 'हिन्दी और तेलुगु के वैष्णव भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' (के रामनाथन, तिरूपति–64), 'हिन्दी और मलयालम के रामकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन' (के. पी. सुभद्रा अम्मा, सागर), 'सुब्रमण्यम और निराला के काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन' (जयरमण, सागर–57)।

5. मनोविश्लेषणवादी आलोचना–

इस समालोचना में समालोचक, कवि या लेखक के वातावरण,

उसके मानसिक विकास, उसके मूल–स्वभाव, उसकी कामनाओं की दिशा, उसके विकसित होने के ढंग एवं उसकी दमित इच्छाओं का सूक्ष्म मनोविश्लेषण करता है अर्थात् जिस समालोचना में कवि और उसकी कृति को वैज्ञानिक तथ्यों की सहायता से परखा जाता है, वह मनोवैज्ञानिक समालोचना कहलाती है। इस पद्धति को मनोवैज्ञानिक आलोचना भी कहा जाता है। इस समालोचना में समालोचक अपनी सीधी पहुँच कवि और उसकी कृति में करता है और वह कवि की उलझी ग्रंथियों को उधेड़ डालता है। हिन्दी साहित्य में मनोवैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात आचार्य शुक्ल ने ही किया। उनके परवर्ती आलोचक माताप्रसाद गुप्त, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. बलदेवप्रसाद, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी एवं देवराज उपाध्याय आदि प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक हैं।

साहित्य का संबंध मन से है। प्रत्येक साहित्य में मानव–मन के क्रियाकलाप ही यथार्थ अथवा काल्पनिक रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं। चाहे कविता हो, चाहे कथा साहित्य अथवा चित्रकला या मूर्तिकला; सभी मनुष्य के मन की स्थितियों का ही चित्रण करती है। मनुष्य के भीतर कामवासना और अहंकार की प्रवृत्ति व्यापक और बड़ी गहरी होती है। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण मानव जीवन में संघर्ष और टकराव की स्थितियाँ पैदा होती हैं। साहित्य में जो भी युद्ध, संघर्ष, दुर्व्यवहार आदि के चित्रण होते हैं, वे मनुष्य की मानसिक क्रियाओं का आधार लेकर चलते हैं। साहित्य और कलाओं में इस प्रकार के चित्रण आदिकाल से चले आते हैं, परन्तु इन चित्रणों के मनोवैज्ञानिक कारणों पर प्रकाश आधुनिक युग के मनोविश्लेषणवादियों ने डाला।

इस प्रकार की समीक्षा पद्धति के आर्विभाव में तीन मनोवैज्ञानिकों का बहुत बड़ा योग है। उनके नाम हैं– 1. फ्रायड, 2. एडलर और 3. कार्ल जुंग। फ्रायड न्यूरोलॉजी के असाधारण प्रोफेसर थे। फ्रायड ने मन के तीन स्तरों की कल्पना की है– 1. चेतन मन (Conscious), 2. अर्द्ध चेतन मन (Sub Conscious) और 3. अचेतन या अवचेतन

(Unconscious)। फ्रायड के अनुसार, यद्यपि हमें चेतन मन की क्रियाओं के विषय में तो ज्ञात रहता है, किन्तु अचेतन मन में घटित होने वाली क्रियाओं से हम सर्वथा अज्ञेय रहते हैं। उसका कहना है कि सामाजिक बंधनों के कारण हमारी सब इच्छाएँ पूरी नहीं हो सकती। इस प्रकार की इच्छाओं का दमन चेतन मन के द्वारा होता है। परिणामस्वरूप दमित इच्छाएँ अचेतन मन में जाकर एकत्रित होती रहती हैं। फ्रायड की स्थापना के अनुसार, यह अचेतन मन, जो कि दमित इच्छाओं का क्रीड़ा स्थल है, चेतन मन की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल और क्रियाशील रहता है। अर्द्धचेतन मन सेंसर अर्थात् प्रतिबंधक का काम करता है। जिन इच्छाओं की पूर्ति की संभावना रहती है, उसे स्वीकृति देता है और अपूर्ण इच्छाओं को अचेतन मन में प्रेषित कर देता है। चेतन मन की इच्छाएँ दमित किये जाने पर अर्द्धचेतन मन से होकर अचेतन मन में प्रवेश कर जाती हैं। दमित इच्छाएँ सुप्तावस्था में स्वप्नों द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। इस प्रकार फ्रायड चेतन मन और अचेतन मन को एक दूसरे से सर्वथा भिन्न मानता है। अचेतन मन बहुत शक्तिशाली होता है। फलतः चेतन और अचेतन मन में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। फ्रायड ने मन को तीन भागों में बाँटा है– 1. इड (Ed), 2. अहम् (Ego), 3. आदर्श अहंकार (Super Ego)।

इड को इदम् भी कहते हैं। यह बहुत कुछ अचेतन मन का ही पर्यायवाची है। इदम् हमारी समस्त आदिम प्रवृत्तियों का खजाना है, जिन्हें बालक जन्म से ही अपने साथ लाता है। किन्तु जैसे–जैसे बालक बड़ा होने लगता है, इदम् का यह भाग बाह्य वातावरण के सम्पर्क में आने के कारण अहम् (Ego) में परिवर्तित हो जाता है। यह अहं बाह्य वातावरण से परिचित होकर इदम् की अनियंत्रित और आदिम प्रवृत्तियों की प्रायः रोकथाम करने लगता है। वह अवांछनीय भावनाओं की अभिव्यक्ति का द्वार बन्द कर देता है। फ्रायड का विचार है कि यह इदम् और अहं का संघर्ष ही न्यूरोसिस के रोग का

कारण होता है। आदर्श अहंकार या सुपर इगो का विकास अहं से होता है। सुपर इगो के कारण ही अन्तरात्मा का बोध होता है। सुपर इगो, इगो का ही परिष्कृत भाग है। इगो और सुपर इगो में भी संघर्ष हो जाता है।

एडलर मनोविश्लेषणवादी चिंतक हैं। एडलर दमित इच्छाओं के मूल में कामवासना को महत्व न देकर 'अधिकार भावना' को देता है। व्यक्ति शारीरिक, मानसिक या क्रियात्मक कमी को महसूस कर या अपने को दूसरों से हीन समझ कर अपनी क्षति या हीनता की भावना को पूर्ण करने का प्रयास करता है। इस क्षतिपूर्ति के लिए वह अधिक श्रम और प्रयत्न करता है जिससे वह सफल हो सके। जैसे खेल में असफल एक बालक अपनी क्षतिपूर्ति उसी क्षेत्र में अधिक श्रम और प्रयत्न करके अच्छा खिलाड़ी बनकर कर सकता है या अपने को कमजोर समझकर यह क्षतिपूर्ति कक्षा में अच्छा विद्यार्थी बनकर कर सकता है। एडलर ने न्यूरोसिस में कामवासना की अपेक्षा आत्महीनता का अधिक हाथ बताया है, किन्तु वह व्यक्ति जिसमें रचनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति है, अपनी हीनता की भावना को कल्पनालोक में रहते हुए कलाकृतियों के द्वारा न्यूरोसिस के रोगी होने से अपने को बचा लेता है। अतः साहित्य सर्जक और कला सर्जक आत्महीनता की भावना से आक्रांत व्यक्ति होता है, जो अपनी क्षतिपूर्ति को साहित्य या कला के माध्यम से व्यक्त करता है। सूरदास, जायसी, एडीसन, कीट्स आदि ऐसे ही कलाकार हैं। सूरदास अन्धे थे और जायसी कुरूप थे। इनकी रचनाओं से व्यक्ति के अहंभाव और असामाजिक भावनाओं का निवारण होता है। इस प्रकार साहित्य और कला विश्वबन्धुत्व की भावना को व्यापक बनाकर सामाजिक जीवन को विकसित करते हैं। आधुनिक युग में इस समीक्षा पद्धति की ओर आलोचकों का अधिक झुकाव है।

मनोविश्लेषण समीक्षा पद्धति में काव्य को व्यक्त्वि की अभिव्यक्ति माना जाता है। इसमें काव्यकला और स्वप्न को समान समझा जाता

है। मनोविश्लेषणवादी समीक्षक की दृष्टि में काव्य का चरम लक्ष्य सौन्दर्यबोध तथा आनंदानुभूति ही है। इस आनंद के अतिरिक्त अन्य कोई नीति संबंधी प्रयोजन उसकी दृष्टि में नहीं आता। इस सम्प्रदाय में मनोवैज्ञानिक अथवा चरितमूलक समीक्षा शैली को अपनाया जाता है।

हिन्दी में कहानी, उपन्यास आदि रूपों में इस पद्धति का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। पात्रों में व्यक्तित्व निर्माण में अश्लीलता का प्रवेश भी इसी पद्धति का प्रभाव कहा जा सकता है। इलाचन्द्र जोशी, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' आदि समालोचक इस पद्धति के समर्थक कहे जाते हैं।

6. सौन्दर्य शास्त्रीय या सौन्दर्यवादी आलोचना–

कला के विषय में दो मत हैं– 1. ''कला जीवन के लिए है।'' कला और जीवन का अटूट सम्बन्ध है और कोई भी कला जीवन से पूर्णतः तटस्थ नहीं रह सकती। 2. ''कला कला के लिए है।'' इस मत के अनुसार, कलाकार कला की सृष्टि कला के लिए करता है। कला का ध्येय आनन्द है और वह नैतिक, धार्मिक आदि मूल्यों से सर्वथा तटस्थ रहती है। कला का संसार अपने में पूर्ण और स्वतंत्र संसार है और वहाँ किन्हीं अन्य मूल्यों का समावेश नहीं।

'कला कला के लिए है' यह सिद्धांत सौन्दर्यवादियों का है। इस सिद्धांत को फ्रांस के कवि गोतिये ने 1835 में इसे एक वाद के रूप में प्रस्तुत किया। अतएव उन्हें ही इस वाद का प्रमुख उन्नायक माना जा सकता है। गोतिये की इस सिद्धांत की स्थापना से पूर्व नीतिवादी आचार्य और आलोचक कला को नैतिकता के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध कर रहे थे, उस समय कुछ युवा लेखकों ने गोतिये के सौन्दर्यवादी सिद्धांत से प्रेरणा लेकर उनका विरोध किया। गोतिये ने लिखा है कि ''कोई नगर मुझे अपनी सुन्दर इमारतों के कारण ही सुन्दर लगता है। उसके नागरिक भले ही एक दम जंगली हों और नगर बुराइयों का घर ही क्यों न हो, मेरे लिए इन बातों का तब तक कोई महत्व

नहीं है जब तक कि इन इमारतों के सौन्दर्य का दर्शन करते हुए मेरी हत्या न कर दी जाय।''

गोतिये के समय में जर्मन सौंदर्यशास्त्र, कैण्ट का सौन्दर्यशास्त्र, कला की स्वतंत्रता, कलाकार की निरपेक्षता, शुद्धकला, शुद्ध सौन्दर्य आदि वाक्यों का भावात्मक प्रयोग साहित्य के क्षेत्र में प्रचुर रूप से होने लग गया था। उसने प्रीमियर्स पोयसिस की भूमिका में नैतिकतावादियों, उपयोगितावादियों आदि उन सभी लोगों को, जो कला से किसी विशिष्ट उद्देश्य की मॉग कर रहे थे, उत्तर देते हुए लिखा कि ''इस पुस्तक का क्या उद्देय है? इसका उद्देय केवल सुन्दर होना है।'' तत्पश्चात् उसने ''कला कला के लिए'' का नारा तीव्र स्वर में बुलन्द किया।

'कला कला के लिए' सिद्धांत को पुष्टि करने वालों में जे. ई. स्पिंगर्न, क्लाइव बेल और ए.सी. ब्रेडले का नाम लिया जा सकता है। स्पिंगर्न, काव्य को न नैतिक मानते है न अनैतिक। उनका दृष्टिकोण वाइल्ड, पेटर आदि के समान ही है। वे आलोचना में रोमांचों को ही महत्व देते हैं तथा आचरण संबंधी मूल्यों का बहिष्कार करते हैं। इनके अनुसार समीक्षक का दायित्व इतना ही है कि वह कृति के विषय में अपने रोमांचों को व्यक्त करे। कृति को पढ़ने या देखने के बाद जो आनंद समीक्षक को प्राप्त होता है, वही इस कृति का सही मूल्यांकन है।

इस सिद्धांत के प्रमुख निष्कर्षों को निम्नवत प्रस्तुत किया जा सकता है–

1. कला धर्म, समाज और नैतिकता के बंधनों से मुक्त है। फलतः कला का स्वरूप अनैतिक हो गया है।

2. कला का अर्थ है– सौन्दर्य की अभिव्यक्ति। सौन्दर्य अलौकिक है तथा उससे अभिव्यक्त आनंद भी अलौकिक है। कला का सौन्दर्य प्रकृति सौन्दर्य से महत्तर है। परम्परागत सौन्दर्य भी सारहीन है।

3. कलागत सौन्दर्यबोध स्वाभाविक है, किन्तु इसका विकास भी किया जा सकता है।

4. काव्य में विषय गौण है, शैली और शिल्प महत्वपूर्ण है।

'कला कला के लिए' का सिद्धांत फ्रांस और इंग्लैण्ड से होते हुए बंगाल आया और फिर हिन्दी में आया। इस सिद्धांत का ईलाचन्द जोशी एवं टैगोर पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने 'कला कला के लिए' सिद्धांत को बहुत कुछ विशुद्ध रूप से स्वीकार किया। निराला जी भी इसी मत को स्वीकृति देते जान पड़ते हैं। उन्होंने घोषणा की कि ''उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ।'' हिन्दी के छायावादी कवि इस सिद्धांत से प्रभावित हुए।

हिन्दी आलोचना में ईलाचन्द्र जोशी और डॉ. श्याम सुन्दर दास ही ऐसे आलोचक हैं, जिन्होंने ''कला कला के लिए'' सिद्धांत को सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया है।

5. समाजशास्त्रीय आलोचना

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद से सम्बद्ध होने के कारण इसे भौतिकवादी आलोचना भी कहा जाता है। इसे सामाजिक यथार्थवादी आलोचना, सोवियत समीक्षा पद्धति, मार्क्सवादी आलोचना अथवा प्रगतिवादी आलोचना भी कहा जाता है। इस आलोचना का प्रतिपाद्य विषय प्रगतिवादी साहित्य है। यह आलोचना कला के सिद्धांतों को उतना महत्व नहीं देती जितनी किसानों, मजदूरों, दलितों तथा शोषितों की भौतिक आवश्यकताओं को। वास्तव में समाजशास्त्रीय आलोचक का क्षेत्र है– कर्मविहीन समाज। मुंशी प्रेमचन्द के समय के इर्दगिर्द ही इस प्रकार के साहित्य की सृष्टि प्रारंभ हो गई थी, जिसमें मार्क्स की द्वन्दात्मक भौतिकवादी विचारधारा को आधार बनाया गया। हिन्दी में इस पद्धति के आलोचकों में शिवदान सिंह चौहान, धर्मवीर भारती, रामविलास शर्मा, अमृतराय, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि प्रमुख हैं।

समाजशास्त्रीय आलोचक सम्पूर्ण साहित्य की महता अर्थतंत्र के आधार पर ऑकता है। उसका तर्क है कि मानव–जीवन की समृद्धि, उसकी शान्ति और उसका सब प्रकार का विकास एकमात्र सुव्यवस्थित अर्थ प्रणाली पर ही निर्भर है। जो कृति इस दृष्टि से सफल है, वही श्रेष्ठ है। समाजशास्त्रीय आलोचकों का कहना है कि साहित्य युग परिस्थितियों के अनुसार ही अग्रसर होता है। यह युगचेतना विभिन्न कालों में पृथक–पृथक हुआ करती है। समाज की उन्नति का जब आदिकाल था तब वर्ग–संघर्ष का प्रश्न नहीं था। अतः उस समय मनुष्य ने प्रकृति के गीत गाए। धीरे–धीरे शोषक एक शोषित वर्ग बन गये। इसी कारण वर्तमान युग में वर्ग–संघर्ष हमारे सम्मुख उपस्थित हो गया है। आज मजदूरों को वेतन उनके परिश्रम के अनुपात से न दिया जाकर जीने मात्र के लिए दिया जाता है। श्रमिक वर्ग का खून चूस–चूसकर पूँजीपति धनवान हुए हैं। साहित्य में वर्तमान युग के इस संघर्ष की उपेक्षा करना मानो युग चेतना की उपेक्षा करना है।

इस पद्धति की सबसे खराबी यह है कि इसमें आर्थिक मूल्यों को इतनी महत्ता दी गई है कि अन्य मूल्य दब–से गये हैं। इसके अतिरिक्त वर्ग–संघर्ष, जो एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, इस पद्धति में ध्येय–सा बन गया है। हमारे यहॉ के प्रगतिवादी समालोचक मार्क्स के एकांगी–दर्शन का आधार गॉधी, राम और बुद्ध की सामाजिक भावना से अनुप्रेरित साहित्य–सृजन के प्रति न्याय नहीं करते। समाजवादी–आलोचना के नाम पर भारतीय रस, अलंकार, छन्द, संगीत एवं अन्य कलात्मक तत्वों पर आक्षेप ही नहीं, कुठाराघात भी किया जाता है। साहित्य में गतिशील ऐतिहासिक तथा सामाजिक विकास से संबंधित धारणा का उद्‌घाटन करते हुए सचेतन रूप से समाज को बदलने वाले साहित्य की सृष्टि की ओर ध्यान आकर्षित करने वाली यह समाजशास्त्रीय आलोचना वृहत्तर रूप में मार्क्सवादी दार्शनिक आलोचना का ही विस्तृत रूप है। इस दर्शन के अनुसार वस्तु चरम सत्य है। बुद्धि, विचार या आत्मा उसके

प्रतिबिम्ब मात्र है। जगत की सब वस्तुएं अन्योन्याश्रित होती है, इसीलिए परस्पर अविच्छिन्न है। जगत परिवर्तनशील है। सब वस्तुओं उपस्थित विरोधी तत्वों का संघर्ष भी अनिवार्य है। वस्तु विकासशील भी है और मरणशील भी क्योंकि उसके विकास और विनाश के तत्व स्वयं उसमें ही विद्यमान रहते हैं। विरोध जनित संघर्ष ही वस्तु के विकास का आधार है। वस्तु का विकास पहली स्थिति के विनाश के उपर ही संभव होता है।

समाजशास्त्रीय आलोचना के अन्तर्गत वर्गसंघर्ष के आदर्शो और विचार–धाराओं को प्रमुखता दी जाती है और उन्हीं के अनुसार साहित्य का मूल्य निर्धारित किया जाता है। साहित्य के प्राचीन मापदण्ड, कला और काव्य के प्राचीन आदर्श तथा प्राचीन साहित्य की प्रगतिवादी आलोचना एकांगी है, क्योंकि वर्ग–संघर्ष की भावना की प्रधानता के कारण साहित्य में प्रकट जीवनी की अन्य अनुभूतियों और भावनाओं को तुच्छ और नगण्य बना दिया जाता है।

6. शैली वैज्ञानिक प्रवृत्ति–

शैली वैज्ञानिक समीक्षा से तात्पर्य किसी कृति या रचना की शैली का व्यवस्थित क्रम में अध्ययन करना है। समीक्षा की इस पद्धति को आधुनिक समीक्षकों ने साहित्य के विज्ञान के रूप में मान्यता दी है। इस समीक्षा पद्धति में समीक्षा कृति के भाषिक उपकरणों में वर्ण, शब्द, वाक्य, अर्थ; भाषा वैज्ञानिक उपकरणों में ध्वनि विज्ञान, रूप विज्ञान, वाक्य विज्ञान तथा विज्ञान आदि का अध्ययन किया जाता है। शैली वैज्ञानिक अध्ययन के संदर्भ में डॉ.नगेन्द्र का विचार है– ''अध्येता को यह जानना बिल्कुल भी आवश्यक नहीं है कि वह पहले से रचयिता अथवा कृति के विषय में कुछ जाने। शैली वैज्ञानिक अध्ययन में भाषा ही विश्वसनीय आधार होती है। इसमें अध्येता अपनी निर्लिप्त दृष्टि का आक्षेप करता है तथा भाषा ही इसमें उत्प्रेरक होती है। पिछले एकदशक में हिन्दी और संस्कृत के प्रायः सभी प्रमुख कवियों के साहित्य पर शैली विज्ञान के आधार पर शोध भी हुए और

समीक्षा कृतियॉ भी प्रकाशित हुई हैं।

इस समय हिन्दी समीक्षा इन सभी आलोचनात्मक प्रवृत्तियों से सार तत्व ग्रहण करते हुए आधुनिक एवं पाश्चात्य सौन्दर्य बोध सम्प्रेरित आलोचना पद्धति की ओर गतिशील है। उसमें नित्य नवीन प्रयोग हो रहे हैं। और वह व्यापक फलक पर अपनी पहचान बनाने में सफल है।

7. निर्णयात्मक आलोचना–

सैद्धांतिक आलोचना का व्यावहारिक प्रयोग ही निर्णयात्मक आलोचना का रूप धारण कर लेता है। इसको अंग्रेजी में "Judicial Criticism" कहते हैं। पाश्चात्य देशों में अरस्तु के 'काव्यशास्त्र' के नियम कुछ समय तक वेद के विधि वाक्यों की भॉति आदरणीय और अनुकरणीय समझे जाते थे। भारत में भी बहुत दिनों तक मम्मट और विश्वनाथ के बताए हुए गुण–दोषों के आधार पर काव्य को उपादेय ठहराने की प्रथा रही। निर्णयात्मक आलोचक परीक्षक की भॉति काव्य के गुण–दोषों के आधार पर उसे श्रेणीबद्ध करता है।

यहॉ यह बात ध्यान देने की है कि विस्तृत विवेचना के अभाव में निर्णयात्मक समालोचना सफल नहीं होती। इस प्रकार की आलोचना, आलोचक अपनी रूचि के अनुसार आलोचना–सिद्धांतों के आधार पर ही करता है। ऐसी समालोचनाओं में हम समालोच्य रचना के विषय में उतना अधिक परिचय नहीं पाते, जितना कि निर्णय करने वाले समालोचक की आत्मा का।

हिन्दी में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा मिश्र बन्धुओं ने बहुत कुछ शास्त्रीय पद्धति पर निर्णयात्मक ढंग से आलोचना की। इस प्रकार की आलोचना को शास्त्रीय आलोचना भी कहते हैं, क्योंकि आलोचना करते समय ग्रंथों में गुण–दोषों तथा रीतियों आदि के विवेचन में उदाहरण स्वरूप दूसरे ग्रंथों के श्लोकों की आलोचना हो जाती है।

8. व्याख्यात्मक आलोचना–

इस समीक्षा पद्धति में आलोचक पूर्ववर्ती समीक्षा सिद्धांतों और आदर्शों पर ध्यान न देकर कवि की अन्तरात्मा में झाँकने का प्रयास करता है। उसका उद्‌देश्य कवि के उद्‌देश्य, लक्ष्य, आदर्श या विशेषताओं की व्याख्या करना होता है। व्याख्यात्मक आलोचना सबसे अधिक व्यापक, समीचीन और श्रेष्ठ है। व्याख्यात्मक समालोचक एक अन्वेषक के रूप में किसी रचना का अध्ययन करता है तथा सूक्ष्म बातों का निरीक्षण कर उसके विषय पर पता लगाता है। वह रचयिता के दृष्टिकोण और मत से उदारतापूर्वक अपने मस्तिष्क का सामंजस्य स्थापित करके अपनी साहित्यिक अभिरूचि को उदारता की ओर ले जाता है। तात्पर्य यह है कि ऐसा समालोचक सर्वप्रथम किसी रचना की व्याख्या करता है और उस रचना के प्रति एक सामान्य धारणा बना लेता है, किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ते हुए वह पर्यवेक्षण के अनुसार अपनी धारणा में परिवर्तन करता जाता है। इस प्रकार व्याख्यात्मक समालोचना रचना के उदारतापूर्ण पर्यवेक्षण पर अवलम्बित होती है।

इस प्रकार का आलोचक, रचना के अंग–प्रत्यंग को व्यष्टि रूप से न देखकर समष्टि रूप से देखता है। इस प्रकार की आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि यह समालोचना निश्चित व्याख्या अधिकाधिक गवेषणा के आधार पर साहित्य में परिवर्तन और सुधार की ओर प्रवृत्त होती है। व्याख्यात्मक आलोचना भिन्न–भिन्न प्रकार की रचनाओं की विशेषता तो बता देगी, पर ऊँच–नीच का भेद नहीं करेगी। यह आलोचना साहित्य नियमों को बाहर से आरोपित न मानकर कवि कलाकार की रचना की प्रकृति और परिस्थितियों में से अनुस्यूत मानती है। यह आलोचना नियमों को जड़ या अपरिवर्तनशील न मानकर प्रगतिशील और परिवर्तनशील मानती है। आलोचक कार्य एक न्यायाधीश का न होकर अन्वेषक का होता है। वह विभिन्न कृतियों की तुलना कर, उन्हें बड़ा–छोटा न कहकर उसमें आई विभिन्न बातों को व्यवस्थित रूप में सामने रखकर उनका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करता है।

प्रमुख आलोचना प्रणालियों के उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल से आज तक साहित्य को देखने–परखने, विवेचित–विश्लेषित करने, मूल्यांकित करने तथा निर्णय देने की विविध प्रणालियॉ, पद्धतियॉ और आलोचना विधियॉ प्रचलित रही है। किसी में वस्तु सिद्धांत, वाद और विचार का प्राधान्य है तो किसी अन्य में कृति को देखने–परखने या विवेचित करने की पद्धति का भेद है। किसी एक आलोचना प्रणाली को सर्वांग श्रेष्ठ अथवा हीन नहीं कहा जा सकता है। कुछ अन्य प्रणालियों का ऐतिहासिक महत्व रहा है और अब वे प्रासंगिक नहीं है। कुछ अन्य प्रणालियों को विज्ञान तथा वैज्ञानिक सिद्धांतों का आधार ग्रहण करने के कारण किंचित सीमित अथवा एकांगी होने पर भी उपयोगी एवं महत्वपूर्ण माना जाता है। इस दृष्टि से इस वैविध्यपूर्ण संसार में साहित्य के मानव तथा मानव जीवन का सहृदयता पूर्ण विवेचन होने के कारण काव्यालोचना में भी एकरूपता संभव नहीं। जितने मानवीय भाव, मानव सम्बन्धी विषय तथा उन भावों को व्यंजित करने वाली शैलियॉ होंगी, उतनी ही समालोचना रूप भी कम अथवा अधिक सफलता के साथ साहित्यालोचन में विद्यमान रहेंगे।

संदर्भ ग्रंथ :–

1. डॉ. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत, हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ़ प्रथम संस्करण, 1988
2. डॉ. अजय प्रकाश, काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन, समवेत रामबाग, कानपुर, 2005
3. डॉ. उमेश कुमार सिंह, भारतीय काव्यशास्त्र, राम प्रसाद एण्ड संस, अस्पताल रोड, आगरा–3
4. डॉ. गंगा सहाय 'प्रेमी', भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, हरीश प्रकाशन मन्दिर प्रताप नगर चौराहा आगरा।

■■